ओ३म्
ब्रह्मचर्य के साधन
(पञ्चम भाग)
(स्नान)
लेखक
स्वामी ओमानन्द सरस्वती
प्रस्तुति
दुर्लभ ज्ञान

ओ३म्

ब्रह्मचर्य के साधन

(पञ्चम भाग)

स्नान

लेखक :
श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती

ब्रह्मचर्य के साधन

(पञ्चम भाग)

स्नान

मुख तथा मुखसम्बन्धी अवयवों की शुद्धि के पश्चात् सारे शरीर को शुद्ध करने के लिए स्नान करना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्यशरीर से नाक, कान, चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मल-मूत्र आदि द्वारों से मल निकलता है। क्योंकि शरीर के अन्दर प्रतिक्षण कार्य होता ही रहता है जिससे मल भी उत्पन्न होता रहता है और शरीर स्वभाव से ही भीतर के मल को सदा बाहर निकालता रहता है। गुदा आदि मल-द्वारों तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के अतिरिक्त शरीर के अंसख्य त्वचा-छिद्रों (रोमकूपों, मसानों) के द्वारा प्रतिक्षण स्वेद (पसीना) आदि के रूप में मल निकलता रहता है, यह मल पसीने के साथ मिश्रित होता है। पसीने का जल तो भाप बनकर उड़ जाता है, परन्तु मल भाग त्वचा पर (छिद्रों के मुख पर) एकत्रित होजाता है और छिद्रों के मुख को बन्द करदेता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि शरीर से छूनेवाले वस्त्र बहुत शीघ्र मैले होजाते हैं और उनसे दुर्गन्ध आने लगती है। पसीना शरीर से प्रतिक्षण निकलता है क्योंकि यह रक्त का विकार है, जो भाप बनकर मनुष्य के शरीर से सदैव प्रत्येक ऋतु में ही निकलता है। ग्रीष्म ऋतु तथा कठिन परिश्रम करने पर तो इतना अधिक निकलता है कि यह सबको स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु शीतकाल तथा साधारण अवस्था में यह भाप के रूप में निकलता हुआ स्पष्ट दिखाई नहीं देता। और यदि इसे भलीभांति धोया न जाए तो थोड़े ही समय में चर्म पर इसकी तह जमकर एक पतली सी झिल्ली बन जाती है और बालों के छिद्र व रोमकूप बन्द होने से शरीर के भीतर का नया मल बाहर नहीं निकलने पाता और वह भीतर ही इकट्ठा होकर अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त बाहर की धूल (मिट्टी) भी उड़-उड़ कर शरीर की त्वचा पर पड़ती और जमती रहती है। अतः इस जमे हुए मल को दूर करने तथा शरीर को शुद्ध रखने के लिए प्रत्येक मनुष्य के लिए स्नान करना आवश्यक है। स्नान से शरीर के सब छिद्र खुलजाते हैं और छिद्रों के द्वारा मलविर्सजन की क्रिया ठीक होती रहती है जो स्वास्थ्य के लिए कितनी आवश्यक है, यह पहिले लिखा जा चुका है। जहाँ इन छिद्रों से मल निकलता है, इनके शुद्ध होने पर मनुष्य इनके द्वारा पर्याप्त मात्रा में वायु और प्रकाश ग्रहण करता है। केवल नासिका से ही श्वास न लेकर शरीर

के असंख्य रोमकूपों द्वारा भी मनुष्य श्वास लेता रहता है। यह सारा कार्य मल के जम जाने से बन्द होजाता है, और इन छिद्रों के बन्द होने पर हमारा नाक, मुख भले ही खुला रहे, किन्तु हमारा जीना असम्भव है।

उदाहरण

एक बार एक विज्ञापनदाता कम्पनी ने अपना प्रचार करने के लिए एक मनुष्य के सारे शरीर पर भलीभांति विज्ञापन चिपका दिये और उसे प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक सारे नगर में घुमाते रहे। सायंकाल वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। चिकित्सार्थ एक वैद्य को बुलाया गया । वह बड़ा चतुर था। उसने तत्काल सारे विज्ञापन उतरवाकर उसे भलीभांति स्नान कराया फिर अच्छी प्रकार तेल का मर्दन (मालिश) कराया। तब उसकी मूर्च्छा दूर होकर चेतना आई। इसकी मूर्च्छा का कारण केवलमात्र विज्ञापनों के चिपकाने के कारण त्वचाछिद्रों का रुक जाना था। यदि स्नान आदि के द्वारा उसके बन्द हुए त्वचाछिद्रों को नहीं खोला जाता तो वह कुछ काल पीछे मर जाता। इस सत्यता को प्रकट करनेवाले ऐसे ही अनेक सच्चे दृष्टान्त मिलते हैं।

इसलिए भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही प्रतिदिन स्नान करने की परिपाटी चली आरही है। हमारे पुरुषा भलीभांति समझते थे कि स्वास्थ्य और शरीरशुद्धि के लिए स्नान कितना अनिवार्य है। इसलिए ऋषि महर्षियों ने प्रत्येक मनुष्य की दिनचर्या का इसे आवश्यक अंग बनाया है। पौराणिककाल में तो स्नान को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताकर धर्म का अंग बना दिया गया। उसी अन्धविश्वास के कारण आज भी पुराने ढंग के हिन्दू स्त्री पुरुष इस स्वर्गप्राप्ति के लोभ में सारे कार्तिक मास में प्रतिवर्ष प्रायः बहुत शीतल जल से श्रद्धापूर्वक स्नान करते हैं। उनके कल्पित स्वर्ग का तो कोई अस्तित्व है ही नहीं, किन्तु इसकी आड़ में एक मास स्नान करने का लाभ तो उन्हें मिल ही जाता है। इस प्रकार भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में प्रातःकाल स्नान करने की चाल इस समय भी न्यूनाधिक पाई जाती है। योरोप, अमेरिका आदि अन्य महाद्वीपों वा देशों में भारतवर्ष के समान लोग स्नान नहीं करते। बहुत बड़े लोग ही उन देशों में प्रतिदिन स्नान करने के अभ्यासी मिलेंगे। भारत में अब भी जो इस प्रकार की विशेषतायें मिलती हैं यह सब ऋषियों की कृपा है। इसी कारण स्नान को भारतीय सभ्यता का भक्त अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझकर प्रतिदिन श्रद्धाहपूर्वक करता है। किसी कारण से किसी दिन

स्नान न कर सके तो अपने आपको पापी समझता है। प्रतिदिन स्नान कर अपने को यश और पुण्य का भागी समझता है। बात तो विचार करने पर यह सत्य की कसौटी पर ठीक उतरती है कि स्नान करने से पुण्य और धर्म तो है, परन्तु वह केवल पवित्रता का है। शरीर की शुद्धि और पवित्रता केवलमात्र शुद्ध जल के स्नान से ही होती है। इसलिए मनु जी महाराज लिखते हैं:—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति (मनु० अ० ५ श्लोक १०६)

जल से शरीर के बाहर के सब अवयव शुद्ध और पवित्र होते हैं। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने भी संध्या, उपासनादि नित्यकर्म में स्नान को प्रथम स्थान दिया है, वे अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं:—

"गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें। प्रथम स्नान इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्यता आदि होते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

महर्षि पतञ्जलि जी महाराज अपने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक शास्त्र में लिखते हैं:—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्।।

(चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० ५ श्लोक ५१)

अर्थात् स्नान से शरीर पवित्र होजाता है। वीर्य और आयु की वृद्धि होती है। स्नान से श्रम (थकावट) पसीना तथा मल दूर होता है। शारीरिक बल बढ़ता है तथा ओज की अत्यन्त वृद्धि होती है। इसी प्रकार सुश्रुत में महर्षि धन्वन्तरि जी लिखते हैं:—

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्।
हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविशोधनम्।
तन्द्रापापोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्।।

(सुश्रुत चिकित्सा०अ० २४ श्लोक० ५७-५८)

स्नान-निद्रा, जलन, थकान, पसीना, खाज और प्यास को नष्ट करता है। हृदय के लिए हितकारी है। मैल दूर करनेवाले साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन है। सब इन्द्रियों का शोधन (शुद्धि) तन्द्रा (ऊंघना) और पाप का नाश करता है, स्नान से

चित्त प्रसन्न होता है। पुंस्त्वशक्ति की वृद्धि अर्थात् बढ़ता है, रक्त शुद्ध होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अन्य अनेक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के लाभ लिखे हैं। एक ग्रन्थकार उपर्युक्त लाभ लिखता हुआ इतना अधिक लिखता है—

प्रातःस्नानं दुःस्वप्नविध्वंसनं रूपद्योतकरं शरीरसुखदम्।।

अर्थात् प्रातःस्नान करना दुष्टस्वप्नों (स्वप्नदोष) का सर्वनाश करनेवाला है। सुन्दरता-कान्ति-तेज देनेवाला और शरीर के लिए सुखकारी है।

यह पहले ही सिद्ध किया जाचुका है कि मलिनता जो रागों का घर है, उसे दूर करने के लिए स्नान सर्वोत्तम साधन है। बाह्य शारीरिक मलिनता स्नान द्वारा जब दूर होजाती है तो शरीर शुद्ध और पवित्र होजाता है। जिससे शरीर के सब रोमकूप (मसाम) खुल जाते हैं और शरीर से प्रतिक्षण निकलनेवाला दूषित मल भली-भांति स्वेद (पसीना) द्वारा बिना किसी बाधा के निकलता रहता है। इससे शरीर और रक्त अत्यन्त शुद्ध होजाता है और बाहर की शुद्ध वायु छिद्रों द्वारा भीतर जाती रहती है। इस प्रकार शरीर का मल वा विष भलीभांति निकलते रहने से तथा पर्याप्त मात्रा में शुद्ध वायु की प्राप्ति से रक्त अत्यन्त शुद्ध विकाररहित और शरीर निर्मल, पवित्र नीरोग, स्वस्थ और सुन्दर होजाता है। प्रतिदिन स्नान न करने के कारण शरीर के मलिन होने से छिद्रों के बन्द होजाने और वायु के निर्बाध आवागमन के रुक जाने से खुजली, दाद, फोड़े, फुन्सी आदि रक्तविकार और इसी प्रकार के अनेक रोगों से मनुष्य असंख्य हानि और कष्ट उठाते रहते हैं। पता नहीं क्यों लोग इतने आलसी और मूर्ख हैं कि जिस स्नान पर एक कौड़ी का व्यय नहीं होता और लाभ का ठिकाना नहीं, फिर भी इतने लाभदायक कर्त्तव्य (कर्म) को नित्यप्रति करने में कष्ट मानते हैं वा आलस्य करते हैं।

केवल अकेले स्नान से ही बीसियों प्रकार के रोगों से मनुष्य का शरीर सुरक्षित रहता है और मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। प्राचीन ऋषियों की इस महत्त्वपूर्ण बात से प्रभावित होकर जर्मन के प्रसिद्ध डाक्टर लूई कोइनी ने स्नान द्वारा चिकित्सा (Bath System) नाम की एक पद्धति ही चला डाली और इसी विषय पर एक बड़ा ग्रन्थ भी लिखा है। जिसमें रोग की चिकित्सा भिन्न-भिन्न प्रकार के स्नानों द्वारा ही करनी लिखी है। आज यूरोप आदि देशों में इसका खूब प्रचार भी हुआ है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा स्नान के माहात्म्य को संसार समझता जाएगा और विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली स्वास्थ्यप्रदायिनी ऋषियों की इस

दैनिक पवित्र स्नानक्रिया को अवश्य अपनायेगा। तभी सब रोगों से मुक्ति होगी और मनुष्य पूर्ण स्वस्थ और सुखी होकर जीवन का आनन्द पायेगा। क्योंकि हमारे पूर्वज कल्याणकारी वेदज्ञान से सर्वथा परिचित थे। इसलिए वे अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर प्राणिमात्र की उन्नति के लिए वेदज्ञान का प्रचार देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में करते थे। संसार का उपकार करना ही उनके जीवन का ध्येय वा मुख्य उद्देश्य था। इसलिए जीवनोपयोगी इस स्नानक्रिया का प्रचार वे क्यों न करते।

जल का सदुपयोग मनुष्य के लिए कितना कल्याणकारी है। इस विषय में स्नान के समय पाठ किये जानेवाले कुछ ही वेदमन्त्रों से यह स्पष्ट प्रकट होता है:—

वेद में शुद्ध जल वा स्नान की महिमा

ओ३म्—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ।। ऋक्० १०।९।१।।

(आप:) जल (हि) सचमुच (मयोभुव:) सुखदायी (ष्ठा) होते हैं। (ता:) वे जल [न:] हमें [ऊर्जे] बल के लिए [महे] महत्त्व के लिए (रणाय-चक्षसे) स्वस्थ देखने के लिए (दधातन) धारण करें।

सार यह है—जल के सदुपयोग द्वारा हमें सुख बल, ओज महत्ता, बोलने की शक्ति मिलती है।

ओ३म्—यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः।। ऋक्०१०-९-२।।

(व:) तुम्हारा (य:) जो (शिवतम:) अत्यन्त कल्याणकारी (रस:) रस है [जल है] (उशती: मातर: इव) सन्तान से स्नेह करनेवाली माताओं की भांति (इह) इस समय वा इस लोक में (न:) हमें (तस्य) उसका (भाजयत) भागी कीजिए।

भावार्थ:— जल परमात्मा का अत्यन्त कल्याणकारी रस है जो हमारी स्नेहमयी माता के समान प्राणिमात्र का पालन पोषण और रक्षा करता है।

ऋग्वेद के मन्त्र में 'अप्सु विश्वानि भेषजा अग्निं च विश्वशम्भुवम्' यह आया है। अर्थात् जलों के भीतर सब औषधियां हैं और संसार का कल्याण करनेवाली अग्नि है।

ओ३म्—आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ।। ऋक्०११-१९-१०।।

(आपः) जल (मम तन्वे) मेरे शरीर के लिए, विस्तार के लिए (च) और (ज्योक्) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देखने के लिए (वरूथम्+भेषजम्) श्रेष्ठ औषध [पृणीत] प्रभु कृपा से दें।

इस मन्त्र में जल को विस्तार देनेवाली, दीर्घायु और चिरकाल तक देखने के लिए नेत्रज्योति देनेवाली श्रेष्ठ औषध बताया है।

स्नान (जल) पाप का विनाशक है

ओ३म्— इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ।। ऋक्० १०-९-८।।

(मयि) मुझ में (यत् किं च) जो कुछ भी (दुरितम्) दोष (पाप)है, (वा) अथवा (यत्) जो (अहम्) मैंने(अभिदुद्रोह) सृष्टिनियम का उल्लङ्घन किया हो (वा) अथवा (यत्) जो (शेपे) गाली दी हो (उत) और (अनृतम्) मिथ्या बोला हो (आपः) जल में शीतलता का आधान करनेवाला भगवान् मेरे (इदम्) इस सब दुरित (दोष पाप) को (प्रवहत) भली प्रकार बहादे।

भावार्थः— जल, अनृतभाषण, सृष्टिनियमों का उल्लङ्घन तथा इसी प्रकार अन्य अनेक दोषों को (अपने शीतलता गुण के कारण) दूर करनेवाला है।

इसी प्रकार जल की महिमा वेद भगवान् ने खूब गाई है। अथर्ववेद १-४-४ में '**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**'' जल में अमृत और औषध है ऐसा आया है।

इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भगवान् ने जल के भीतर एक अद्भुत शक्ति कूट-कूट कर भर रखी है जो प्राणियों की प्यास को बुझाती है, शरीर का मल जिससे धुलता है और यदि युक्तिपूर्वक जल का सेवन (स्नानादि के द्वारा) किया जाये तो कोई रोग पास न फटके। यदि भूल से कोई नियमविरुद्ध आचरण कर बैठे और दुर्भाग्य से प्रकृति रोग के रूप में हमें दण्ड देदे तो इससे बचने का उपाय जल है। जिसमें सब औषध हैं। जल सुखों का भण्डार, बल, ओज, शीतलता (शान्ति), शक्ति, पुष्टि, महत्ता , वक्तृत्वशक्ति, नेत्रज्योति आदि के प्रदान करनेवाला है। सब रोगों की एकमात्र औषध है। वेद ने जल को संसार का सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी रस माना है और इसकी माता के समान उपमा दी है। क्योंकि ''जितना माता से सन्तानों का उपदेश पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता

सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता।
(सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास)

महर्षि दयानन्द ने माता की प्रशंसा में उपर्युक्त शब्द कहे हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार माता अपने प्राणों की आहुति देकर अपने सन्तान की रक्षा और हित चाहती है उसी प्रकार भगवान् का सर्वश्रेष्ठ जल भी प्रभु के प्रियपुत्रों (सब प्राणियों) की रक्षा और हित के लिए पूर्ण आहुति देदेता है। जिस प्रकार प्राणियों का प्राण वायु है, इसी प्रकार जल भी क्या वनस्पति, क्या प्राणी सभी के जीवन का आधार है। जल की आवश्यकता पड़ने पर यदि जल न मिले तो उस समय इसके मूल्य का पता चलता है। जल न मिलने पर खेती सूख जाती है। क्या जङ्गम, क्या स्थावर, सारा संसार ही व्याकुल हो उठता है, उस समय याद आता है :—

"यो वः शिवतमो रसः, उशतीरिव मातरः" आहा! प्रभु यह तेरा रस सचमुच कल्याणकारी है और यह हमारी माता के समान रक्षा करता है।

संस्कृत में जल का नाम **जीवन** रखना जल की महत्ता को प्रकट करता है। जल के बिना जीवन असम्भव है, इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य के शरीर में लगभग ३/४ भाग जल का है। फिर यह किस बाड़ी का बथुआ है जो बिना ज़ल जी सके। इसलिए जहां जल होता है वहां ही यह सदैव से बसता आया है। इसी सत्य को प्रकट करने के लिए वेद-शास्त्रों ने जल की महिमा का इतना वर्णन किया है।

जगदम्बा ने अपने प्रियपुत्रों [जीवों] के कल्याण के लिए जल जैसा शीतल, शान्तिदायक, अमृतरूपी पदार्थ रच दिया। किन्तु हम हैं उसके अभागे कपूत, जो इस अमृत से भी दूर भागते हैं। स्नान तो दूर रहा हमारा जलपान भी ठीक नहीं होता। पर्याप्तमात्रा में जल न मिलने से पाचनक्रिया ठीक नहीं होती और जल के सहारे ही शरीर के मल स्वेद [पसीना] और मूत्र के द्वारा बाहर निकलते हैं और शरीर से निकला हुआ हमारा देह-मल जल से स्नान द्वारा धुलकर तन और मन को शान्त, पवित्र और निर्मल कर देता है। मनुष्य को बल, शक्ति, तेज, कांति, रूप और सुन्दरता आदि गुण शरीरशुद्धि से ही प्राप्त होते हैं। शरीर शुद्ध होने से आरोग्य और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। क्योंकि मलिनता रोगों की जननी है और स्वस्थ मनुष्य ही दीर्घजीवी होता है। इस प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। शरीर की मलिनता से मन भी मलिन रहता है।

"मलिन वा गन्दा मन ब्रह्मचर्य का परम शत्रु है। काम रिपु मलिन मन में

ही आकर डेरा जमता है और जगी हुई कामवासना ब्रह्मचर्यरूपी भवन की जड़ों को खोखला कर डालती है।''

कामवासना को शान्त करने के लिए शीतल जल का स्नान एक श्रेष्ठ साधन है। यह अनुभवसिद्ध और सर्वसम्मत सिद्धांत है। जाग्रत अवस्था में ही नहीं स्वप्न अवस्था में सतानेवाले दुःस्वप्न वा कामविकारों का भी स्नान शमन करता है।

योगी याज्ञवल्क्य भी इस सत्य को इस प्रकार प्रकट करता हैः—

गुणाः सदा स्ननापरस्य साधोः, रूपं च तेजश्च बलञ्च शौचम्।।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वम्, दुःस्वप्ननाशञ्च यशश्च मेधाम्।।

हे सज्जनो ! सदैव स्नान करनेवाले मनुष्य को रूप, तेज, बल, पवित्रता आयुष्य, आरोग्यता, अलोलुपता, बुरे स्वप्नों का न आना, यश और मेघादि गुण प्राप्त होते हैं।

ऊपर लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स्नान सभी के लिए अत्यन्त लाभदायक होने से प्रतिदिन करना आवश्यक है। **ब्रह्मचर्य के लिए** विधिपूर्वक स्नान करना अमृत की घूंट भरना है। वेद के कोष निघण्टु में उदक (जल) के एकशत (सौ) नाम आये हैं। इसमें **''रेतः शुक्रम्''** जो सब धातुओं के सार वीर्य के ही नाम हैं और इसी प्रकार **ओज तेज** जो शुद्ध वीर्य वा उस से उत्पन्न हुई शक्ति के नाम हैं, ये निघण्टु में पढ़े हैं। ये भी जल के नाम हैं। इसी प्रकार **अमृत** भी जल का नाम लिखा है। इससे यही सिद्ध होता है—

''कि यदि ब्रह्मचारी स्नानादि के द्वारा जल का उचित प्रयोग करता रहे तो जल वीर्यरक्षा में अमृत के समान सहायक है और यह ब्रह्मचारी को शुक्र (वीर्य) से परिपूरित करता हुआ ऊर्ध्वरेता, ओजस्वी, तेजस्वी बना देता है।''

जल की विशेषता प्रकट करनेवाले और भी अनेक **''सर्पिः,घृतम्, क्षीरम्, अन्नम्, भेषजम्, पवित्रम्, शुभम्, महायशः, स्वः''** आदि नाम भी इसके वहीं लिखे हैं। जिससे प्रकट होता है कि जल का सदुपयोग दूध, घी के समान हृष्ट-पुष्ट करनेवाला है, अन्न के समान जीवन का आधार तथा (अन्न के उत्पादन में मुख्य हेतु है) सर्वरोगनाशक औषध है। इसलिए इसको आरोग्य और स्वास्थ्यप्रदान करके शुद्ध, पवित्र करनेवाला कहा गया है। यह मनुष्य को कल्याणमार्ग का पथिक बनाकर महान् और यशस्वी बनाता है। तब ही मानव अन्त में स्वः स्वर्गलोक की प्राप्ति करता और मोक्षपद को पाता है। इसलिए ब्रह्मचारी को जल को तुच्छ वस्तु समझकर इसकी

उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मचर्यपालन में भी जो विघ्न और बाधायें हैं, स्नान उनका वध (सर्वनाश) करके वीर्यरक्षा में सच्चे मित्र के समान सहायता करता है। किन्तु यह लाभ शास्त्रीयविधि के अनुसार स्नान करने से होता है।

स्नान की शास्त्रीयविधि

लोग प्राय: स्नान करने में बड़ी शीघ्रता करते हैं। समय पर शीतल, उष्ण, मलिन वा स्वच्छ जैसा भी जल मिल जाता है, झटपट शरीर पर दो चार लोटे डाल लेते हैं। शरीर सारा भीगा है वा सूखा इसका भी ध्यान नहीं रखते। स्नान के समय शरीर को रगड़ने के लिए हाथ लगाने में इन्हें कष्ट होता है। मूर्खों ने ऐसी-ऐसी लोकोक्तियां भी घड़ रखी हैं कि :—

''स्त्री का नहाना और पुरुष का खाना बहुत शीघ्र होना चाहिए।''

भला इस प्रकार के स्नान से भी कोई लाभ होसकता है। यह तो स्नान का नाम ही करना है। इससे लाभ के स्थान पर हानि होती है। जब सारा शरीर ही नहीं भीगता तो शरीर का मैल कैसे दूर होसकता है? उल्टा थोड़ासा जल डालने से शरीर के भीतर की उष्णता ऊपर आजाती है और वह शान्त न होने से हानि वा कष्ट पहुँचाती है। इसलिए जब तक स्नान से शरीर शीतल वा शान्त न होजाए और उस पर लगा हुआ मल तथा विष सर्वथा न धुल जाए तब तक उसका नाम स्नान रखना मानो स्नान का तिरस्कार करना है। इसलिए सभी ऋतुओं में पर्याप्त शुद्ध, शीतल जल से पर्याप्त समय तक ब्रह्मचारी को प्रतिदिन रगड़ रगड़ कर अर्थात् घर्षणस्नान करना चाहिये। तभी देह के सभी मल दूर होकर शुद्ध, शीतल और शांत होता है। शीत ऋतु की अपेक्षा उष्ण ऋतु में अधिक समय तक स्नान करना चाहिए। उष्णकाल में तो प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए ही दोनों समय का स्नान अत्यन्त आवश्यक और बहुत लाभदायक है किन्तु ब्रह्मचारी को तो सभी ऋतुओं में दोनों समय स्नान करना भोजन से भी आवश्यक समझना चाहिये। कितने ही ब्रह्मचर्यप्रेमी रात्रि को शयन से पूर्व भी स्नान करते हैं। इस से उन्हें बड़ा लाभ यह होता है कि उन्हें निद्राकाल में ब्रह्मचर्य का परम शत्रु स्वप्नदोष नहीं सताता।

''स्वप्नदोष के रोगी को चाहे वह गृहस्थी हो वा ब्रह्मचारी सायंकाल अवश्य स्नान करना चाहिए।''

जिन को स्वप्नदोष होता है उनको दोनों समय का स्नान अथवा तीसरी बार का स्नान भी बहुत लाभ करता है। स्वप्नदोष की संख्या अवश्य घट जाती है और

किसी किसी का यह रोग वा व्याधि स्नान से ही हट जाती है। जिस सौभाग्यशाली स्त्री वा पुरुष को यह महारोग नहीं होता वह भी भविष्य में दोनों समय के स्नान से सदैव निश्चिन्त सुरक्षित (बचा) रहता है।

''सायं प्रातः का स्नान स्वप्नदोष के शस्त्र के प्रहार को रोकने की एक ढाल है।''

सभी ऋतुओं में ब्रह्मचारी ही नहीं, आबाल वृद्ध, वनिता, सभी नर-नारियों को, गृहस्थ, वानप्रस्थ वा संन्यासियों को , यों कहिये कि सभी वर्णाश्रम वालों को सदैव शीतल जल से स्नान करना चाहिये। उष्ण जल का प्रयोग वा स्नान ब्रह्मचारी के लिए अत्यन्त हानिकारक है। उष्ण जल तो ब्रह्मचर्य और स्वास्थ्य का सर्वनाश करनेवाला है। मुझे यह पढ़कर अत्यन्त दुख और आश्चर्य होता है कि ब्रह्मचर्य की पुस्तकों में भी लेखकों ने शीतकाल में उष्ण जल से स्नान करने का विकल्प कर दिया है, किसी किसी ने तो खुली आज्ञा देदी है। मैं समझता हूं उन्होंने यह भारी पाप किया है।

''उष्ण जल से स्नान करना तो वीर्यनाश का निमन्त्रण देना है।''

ब्रह्मचारी क्या? किसी भी ब्रह्मचर्यप्रेमी को कभी भूलकर भी उष्ण जल से स्नान नहीं करना चाहिये। शीतल जल का स्नान जहां ब्रह्मचर्य के लिए पीयूषपान है इसी प्रकार सभी के लिये और सब प्रकार से स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त लाभदायक है। जहां शीतल जल के स्नान से शरीर के भीतर की व्यर्थ की उष्णता बाहर या ऊपर आकर शान्त होजाती है इसी प्रकार बाहर की उष्णता दबकर भीतर चली जाती है। इसी से मनुष्य की जठराग्नि प्रदीप्त और प्रबल होजाती है। यह सभी के अनुभव की बात है कि भूख कितनी ही न्यून क्यों न हो किन्तु स्नान के पश्चात् अवश्य बढ़ जाती है।

हमारे प्रान्त में लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है **''ब्राह्मण नहाया और गजब आया।''** कोई जन्मजाति का ठेकेदार बिना विचारे दु:ख न मान जाये। यह सत्य इस प्रकार है:—ब्रह्मण अध्ययन, अध्यापन, यजन याजन तथा उपदेश आदि का कार्य बैठकर ही करता है, यह सब मस्तिष्क का ही कार्य है। इसलिए ब्राह्मण को अन्य वर्णों की अपेक्षा शारीरिक श्रम बहुत न्यून करना पड़ता है, इसलिए उसे भूख बहुत कम लगती है। किन्तु शीतल जल के स्नान से उसे भी भूख के कष्ट का अनुभव होता है। इस लोकोक्ति का यही अभिप्राय है। इसीलिये महर्षि धन्वन्तरि ने **''स्नानमग्नेश्च दीपनम्''** ऐसा कहा है। अर्थात् अन्य लाभों के अतिरिक्त स्नान

जठराग्नि को दीप्त करता है, अर्थात् भूख को जगाता है और लगाता है। भारतवर्ष जैसे उष्णदेशवासियों के लिए शीतल जल का स्नान लाभदायक है ही किन्तु शीतप्रधान पाश्चात्य देशों के लिए भी शीतल जल का स्नान लाभ ही करता है। वहां के लोग भी इसकी उपयोगिता समझने लगे हैं।

यूरोप के एक डाक्टर निकोल्स लिखते हैं:—"शीतल जल से मत डरो"। मैंने शीतल वायु के लगने से लोगों को रोगी होते देखा है, परन्तु शीतल जल से स्नान करने पर किसी को रोगी पड़ते नहीं देखा। मैं चालीस वर्षों से निरन्तर शीतल जल से स्नान किया करता हूं। जब वायु की शीतलता (ठण्ड) थर्मामीटर में शून्य डिग्री से भी १० डिग्री नीचे होगई थी और जल की एक-एक बूंद फर्श पर पड़ते ही बर्फ होजाती थी उस समय भी मैंने शीतल जल से स्नान किया है। शीतल जल से मैंने तो सदा बल और आरोग्यता को ही प्राप्त किया है।"

जब यूरोप और अमेरिका जैसे शीतलदेशों के निवासी शीतलजल के स्नान को इतना लाभदायक और महत्त्वपूर्ण समझते हैं, तब भारत समान उष्ण जलवायुवाले देशों में शीतलजल से स्नान करने के लाभ और महत्त्व को सभी सहज में ही समझ सकते हैं।

शीतल जल के स्नान से मनुष्य में स्वाभाविक पवित्रता और उच्चविचारों की जागृति होती है। कुत्सित वा गन्दे विचारों का सर्वनाश होता है। क्योंकि शीतल जल का स्नान शरीर ही नहीं मन को भी शुद्ध, पवित्र और शान्त करता है। जिसका अन्त:करणचतुष्टय और आत्मा पर भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार स्नान बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुद्धि करता है, जो ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए महर्षि धन्वन्तरि जी ने—

"पापोपशमनं स्नानम्"

शीतल जल का स्नान पापों का उपशमन (सर्वनाश) करता है ऐसा लिखा है। यह अनुभूत भी है। जब कामविकार किसी युवक को बहुत तंग करने लगे और किसी उपाय से भी शांत न हो तो ऐसे समय में शीतल जल का स्नान रामबाण के समान कार्य करता है। सिर पर शीतल जल पर्याप्त मात्रा में डालना चाहिए जिससे सिर भी सर्वथा शीतल होजाए। इससे मस्तिष्क की उष्णता दूर होकर मन और शरीर भी शुद्ध, पवित्र और शांत होजाते हैं और कामाग्नि वा पाप की भावना के ठहरने का स्थान कहां? क्योंकि मलिन शरीर में मलिन मन और मलिन मन में काम विकार (पाप) का निवास होता है। इस बात का तो स्नान करते समय सभी

को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जब स्नान करने के लिए बैठें तो सबसे प्रथम सिर पर ही जल डालें और इसे भिगोकर खूब ठण्डा करलें। कभी भूलकर पहले पैरों पर वा शरीर के नीचे के भागों पर स्नान करते समय जल न डालें, नहीं तो नीचे की सब उष्णता सिर में चढ़कर मस्तिष्क, स्मरणशक्ति और नेत्रज्योति को बहुत हानि पहुँचायेगी, और इससे काम-विकार जागृत हो प्रबल होते हैं। मन और स्वास्थ्य दोनों पर ही दुष्प्रभाव पड़ता है। इसलिए स्नान करते समय सबसे प्रथम सिर को भिगोयें और भलीभांति धोयें। इस छोटीसी भूल के कारण अज्ञानवश लोग अनेक प्रकार की हानियां उठाते हैं। वैसे तो साधारण मनुष्यों में भी यह बात प्रचलित है कि सिर को सदैव शीतल (ठंडा) और पैरों को उष्ण (गर्म) रखना चाहिए किन्तु स्नान करते समय इस स्वास्थ्य के रहस्य को भूल जाते हैं। आंगल भाषा में भी यह लोकोक्ति इस प्रकार आती है:—

"Keep the head cool and the feet warm"

अर्थात् सिर ठण्डा और पैर उष्ण रखें। यदि पैरों को और शरीर के नीचे के अंगों को स्नान के समय पहले भिगोया वा धोया जावे और पीछे सिर और ऊपर के अंगों को भिगोयें, धोयें तो स्नान का जो उद्देश्य शरीरशुद्धि है, वह भी ठीक-ठीक नहीं होती। क्योंकि सिर अन्य अंगों को मैला व गन्दा करता है, जिन्हें फिर धोना पड़ता है, इसलिए सिर भिगोकर मुख आदि नीचे के अंगों को क्रमशः खूब भिगोयें और रगड़-रगड़कर भलीभांति धोयें। शरीर के प्रत्येक अंग को हाथों से खूब रगड़-रगड़कर शुद्ध कर डालें। साथ ही शरीर पर इच्छानुसार जल भी डालते रहें। बिना रगड़े शरीर पर जल डालने से मैल दूर नहीं होता । किन्तु आंख मूत्रेन्द्रिय आदि कोमल अंगों को सावधानी से शुद्ध करना चाहिए, नहीं तो हानि होने की सम्भावना है। स्नान करते समय हाथ से रगड़ने में शरीर में जो उष्णता वा विद्युत् सी उत्पन्न होती है, उससे शरीर में उत्साह, स्फूर्ति, साहस, बल तेज वा कान्ति की वृद्धि होती है और सभी शारीरिकरोगों की निवृत्ति होती है। इसलिए शरीर के प्रत्येक अवयव को भलीभांति रगड़ना चाहिए। इससे स्नान के साथ व्यायाम भी हो जाता है, और जिस अंग वा स्थान को नहीं रगड़ा जाता वह निर्बल और रोगी हो जाता है। स्नान के समय पेट का खूब घर्षण करना चाहिए जिससे प्रायः सभी उदर विकार समाप्त होजाते हैं। पेट अपानवायु के निकले से अत्यन्त कोमल होजाता है। शौच भी खुलकर आता है और मनुष्य का सारा शरीर सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी हो जाता है। इस प्रकार घर्षणस्नान से अर्थात् रगड़-रगड़कर नहाने से मनुष्य सारे

दिन प्रसन्न और आनन्द में मग्न रहता है। जो स्नान नहीं करते अथवा शरीर को बिना रगड़े स्नान करते हैं उनको स्नान का पूरा लाभ नहीं पहुँचता, और ऐसे ही लोग सदा मलिन, आलसी, विषयी, रोगी, दुःखी, निरुत्साही तथा निस्तेज रहते हैं। इन्हें ब्रह्मचर्य पालन में सफलता नहीं मिलती, इसलिए अल्पायु में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। दीर्घ-जीवन और आनन्द की प्राप्ति इनके भाग्य में नहीं होती। ब्रह्मचारी को स्नान करते समय एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि जहां वह मस्तिष्क को खूब शीतल जल डालकर स्नान से पूर्व धोए और शुद्ध करे, उसी समय नाभि के नीचे पर्याप्त, शीतल जल की धारा और मूत्रेन्द्रिय तथा उसके आस-पास के स्थान को धोकर शुद्ध कर डाले। मूत्रेन्द्रिय को रगड़ें या मलें नहीं। इससे हानि होसकती है। इस स्थान की शुद्धि आवश्यक है। स्नान करते समय हम अन्य सभी अंगों को तो शुद्ध कर लेते हैं किन्तु मूत्रेन्द्रिय को लज्जा व प्रमाद के कारण छोड़ देते हैं। इसकी शुद्धि का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए, यह एक कोमल अंग है। इसे तथा अण्डकोषों को तथा आस-पास के स्थान को प्रतिदिन स्नान के समय शुद्ध करना आवश्यक है। इनकी शुद्धि के अभाव में दाद, खुजली, स्वप्रदोष आदि रोग उत्पन्न होते हैं। किन्तु नाभि के नीचे जल डालने तथा मूत्रेन्द्रिय की शुद्धि और स्नान से ब्रह्मचर्यपालन में बड़ी सहायता मिलती है। स्नान के समय मूत्रेन्द्रियस्नान भी यदि सुविधा हो तो प्रतिदिन करें। जिसकी विधि और लाभ पहले लिख चुके हैं। काम-विकार शांत होते हैं और केवलमात्र इस क्रिया के करने से ही बहुत से रोगियों का स्वप्रदोष और धातुप्रमेह दूर होजाता है। १६ वर्ष की आयु के पीछे मूत्रेन्द्रिय के आस पास के स्थान पर बाल उगते हैं। इनको भी मास में दो बार कैंची से काट डालना चाहिये नहीं तो हानि होने की सम्भावना है। इस स्थान की शुद्धि करने में यह बाधक हैं। आजकल फैशन के पागलपन में लोग सिर पर बड़े-बड़े बाल रखते हैं। इससे सिर में धूल आदि मैल जम जाता है और सिर का स्नान भलीभांति नहीं होता। ऐसे लोगों के सिर में मैल जमा ही रहता है। बिना सिर की शुद्धि के स्नान ही क्या है? इसलिए कहा है—**'न च स्नायाद् विना शिरः'** अर्थात् बिना शिर का स्नान किये वा भिगोये स्नान कभी नहीं करना चाहिए।

इसलिये शिर का स्नान सर्वप्रथम और अवश्य होना चाहिये। बाल इस स्नान में बाधक हैं। भारत जैसे उष्णप्रदेश और विशेषतया उष्णकाल में बाल अत्यन्त हानिकारक हैं। इनसे मस्तिष्क बुद्धि और आंखें खराब होजाती हैं। इसलिए इन बालों की बला से बचे रहें जिससे स्नान का लाभ शरीर और नेत्रों को पूर्णतया पहुँच

सके। कई लोग बालों को तथा शरीर को शुद्ध करने के लिये साबुन मलकर उष्ण जल से नहाते हैं। पहले लिखा जाचुका है कि उष्ण जल ब्रह्मचर्य की दृष्टि से तो अत्यन्त हानिकारक है ही, इसके अतिरिक्त उष्ण जल के स्नान से और भी हानियाँ होती हैं। शिर पर उष्ण जल डालने के विषय में सुश्रुत में श्री महर्षि धन्वन्तरि जी लिखते हैं:—

'उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा।'

अर्थात् उष्ण जल शिर पर डालकर स्नान करना नेत्रों को सदा हानिकारक हैं। और शीतल जल के विषय में वे लिखते हैं:—

'शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत्'

अर्थात् शीतल जल शिर पर डालकर स्नान करना नेत्रों को लाभदायक है।

एक वैद्य एक स्थान पर लिखते हैं:—

''शीतल जल के स्नान से उष्णवात, सोजाक, मिर्गी, उन्माद, रक्तपित्त, स्वप्रदोष, प्रमेह और मूर्च्छा आदि रोगों में बड़ा उपकार होता है।''

आजकल जब कि धातुक्षीणता से ६० प्रतिशत मनुष्यों की प्रकृति वा स्वभाव उष्ण रहता है इस दृष्टि से भी सभी को शीतल जल से स्नान करना लाभदायक है। सन्देह होता है, क्या रोगी भी उष्ण जल से न नहाये ? प्रथम तो ब्रह्मचारी रोगी होता ही नहीं। यदि किसी भूल से हो भी जाये और स्नान करने की इच्छा हो तो उसे शीतल जल से ही स्नान करना चाहिये। रुग्ण अवस्था में जो लोग भोजन करते हुए नहीं डरते, पता नहीं वे स्नान से क्यों डरते हैं ? और रोगी तो दीन दया का पात्र ही होता है। इसलिये मनु जी ने **'नातुरः स्नानमाचरेत्'** (मनु०अ० ४ श्लोक १२६) रोगी स्नान न करे। यह आज्ञा देकर रोगी पर दयादृष्टि की है। दौर्भाग्यवश रुग्ण अवस्था में किसी को उष्ण जल से स्नान करना ही पड़े तो शिर, मसाना (मूत्रेन्द्रिय) पर तो शीतल जल डालना ही चाहिये। इन दोनों स्थानों पर तो उष्ण जल का कभी प्रयोग न करें। इसकी हानियां पहले ही बताई जाचुकी हैं।

स्नान का स्थान

स्नान करने के लिए भी सर्वोतम स्थान नदी का माना जाता है। तडाग (तलाब) और कुओं पर भी स्नान करते हैं। कहीं भी नहाओ, जल शुद्ध होना चाहिये। मैले सड़े हुए जल में चाहे वह नदी, कूप, तडाग किसी का भी हो, उसमें स्नान करना रोग मोल लेना है। इसलिये वर्षाकाल में जल गन्दा होने के कारण ही नदी में स्नान

करने का निषेध किया है। चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय २७ श्लोक २१० में लिखा है:—

वसुधाकीटसर्पाखुमलसंदूषितोदकाः।
वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः।।

मिट्टी, कीड़े, सांप, चूहे आदि तथा अन्य मलों से दूषित जल वर्षाकाल में नदियों में मिल बहने लग जाता है। इसलिये नदियों के जल दूषित होकर सब (तीनों) दोषों को बढ़ानेवाले होते हैं।

इसी प्रकार सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ४५वें अध्याय में लिखा है:-

कीटमूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम्।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम्।। ९।।
यो वगाहेत वर्षासु पिबेद्वापि नवं जलम्।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु।। १०।।

कीड़े, मूत्र, विष्ठा, अण्डे, शव (लाश), कोथ (दुर्गन्धित पदार्थ), तृण से घास पात, कूड़ा-कर्कट वर्षा के जल में मिले रहते हैं। वर्षा का नवीन जल मलिन और विषयुक्त होता है। जो मनुष्य उस जल में स्नान करता है वा उस नवीन जल का पान करता है उसके शरीर में बाहर होनेवाले (फोड़े, फुन्सी नाहरुवा आदि चमड़े के) रोग होजाते हैं तथा अन्दर के भीतरी रोग (उदरविकार अजीर्ण ज्वर आदि) तत्काल होजाते हैं।

किन्तु ऋषियों की इस हितकारी बात पर भी पौराणिक अन्धविश्वास में फंसे हुये लोग ध्यान नहीं देते और गङ्गा यमुना को पवित्र पापनाशिनी और मोक्षदायिनी समझकर वर्षाकाल में इनके गन्दे और सड़े हुये जल में डूबते रहते हैं और इसीलिए दाद, खाज आदि चर्मरोगों से सड़ते हुये दिखाई देते हैं। इसी प्रकार कलकत्ता, दिल्ली आदि नगरों के निकट सारे नगर का मल-मूत्र बहकर प्रतिदिन गंगा और यमुना में मिलता रहता है वहां भी लोग उनमें स्नान करके अपने आप को पुण्य और यश का भागी समझते हैं। किन्तु जिस प्रकार मैले जल के पीने से रोग होते हैं, उसी प्रकार मलिन जल का स्नान भी अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। अतः बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि नदी, तालाब, कूप, वा बावड़ी जहां पर स्नान करें, शुद्ध शीतल जल से ही स्नान करें। वैसे शुद्ध जलवाले नदी वा सरोवर में स्नान करने से ब्रह्मचारी को बड़ा लाभ होता है। स्नान का स्नान और व्यायाम का व्यायाम। क्योंकि तैरने से शरीर के सभी अंगों का व्यायाम होजाता है।

फुफ्फुस शुद्ध और बलवान् होते हैं। छाती चौड़ी और सम्पूर्ण शरीर हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, सुदृढ़, निरोग, स्वस्थ और शक्तिशाली बन जाता है। नियमपूर्वक तैरने से चक्षु और वीर्यसम्बन्धी सभी रोग दूर होजाते हैं। तैरने की बड़ी अच्छी विद्या है। ब्रह्मचर्य तथा स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से तो हितकारी है ही तथा समय पड़ने पर दूसरों की प्राणरक्षा के लिए भी खूब काम आती है। इसलिये ब्रह्मचारी को तैरना अवश्य सीख लेना चाहिए। चक्षुःस्नान व मूत्रेन्द्रियस्नान के लिये भी बड़ी सुविधा है और ये दोनों ब्रह्मचारी के लिये अत्यन्त आवश्यक और हितकर हैं। यदि नदी और सरोवर सुलभ न हो तो कूप पर भी पर्याप्त, शुद्ध शीतल जल से, खूब रगड़-रगड़कर स्नान करना चाहिये। कूप में से जल निकालने के समय आलस्य न करें। इसमें भी व्यायाम होता है। निकालने के परिश्रम के भय से स्नान के समय जल के बर्तने में लोभ करना मूर्खता है। स्नान के समय वा स्नान के पश्चात् शरीर को खद्दर के वस्त्र से खूब रगड़-रगड़कर मलना चाहिए। स्नानकाल में तो गीले अङ्गोछे से रगड़े, परन्तु स्नान कर चुकने पर सूखा अङ्गोछा ही ठीक है।

इस क्रिया को चरक में परिर्माजन के नाम से लिखा है और इसके अनेक लाभ बतलाये हैं:—

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूं मलमरोचकम्।
स्वेदबीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्जनम्।।

(सूत्रस्थान अध्याय ५ श्लोक ९०)

स्नानादि के समय शरीर का परिमार्जन वस्त्र आदि के द्वारा रगड़-रगड़कर मैल उतारने की क्रिया करने से दुर्गन्ध , भारीपन, तन्द्रा (आलस्य), कण्डू (खुजली) मल (सब प्रकार की मलिनता), अरुचि (भोजन में रुचि न होना) और श्वेद (पीसने) द्वारा बीभत्सता (कुरूपता) नष्ट होती है। जो लोग स्नान के पीछे गीले शरीर को शुष्क अङ्गोछे से रगड़-रगड़कर नहीं पोंछते उनको उपर्युक्त दाद, खुजली आदि दोष वा रोग लग जाते हैं। शरीर को अङ्गोछे से पोंछे बिना स्नान से विशेष लाभ नहीं होसकता। सूखे और मोटे अङ्गोछे से शरीर का पोंछने से स्नान से फूला हुआ शरीर का मैल सहज में ही छूट जाता है और त्वचा अत्यन्त शुद्ध होकर इस पर विशेष कांति और तेज आजाता है। शरीर को इस प्रकार मोटे खुरदरे वस्त्र से पोंछने से शरीर के समस्त अवयवों का व्यायाम भी होजाता है। जितनी शुद्धि वा लाभ इस प्रकार वस्त्र से पोंछने से होता है उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं होसकता। आजकल के पढ़े लिखे बाबू लोग स्नान के समय साबुन का प्रयोग

करते हैं, वे घर से धन व्यर्थ में खोकर साथ ही अनेक हानियां भी उठाते हैं।

इसीलिये राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे विचारशील नेता स्नान के लिये साबुन का प्रयोग नहीं करते थे।

स्नान के विषय में कुछ आवश्यक बातें

वैसे तो स्नान के समय शरीर के सभी अंगों को (मूत्रेन्द्रिय को छोड़कर) रगड़-रगड़कर घर्षणस्नान करना ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक है किन्तु पांव की सभी अंगुलियों के बीच के भाग को हाथ के अंगूठों से एक दो मिनट तक रगड़ना ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए लाभदायक है। क्योंकि हमारे पांव के अंगूठों की मोटी नसों का सम्बन्ध मूत्रेन्द्रिय से है। इन नसों के दबने वा मलने से मूत्रेन्द्रिय में अनावश्यक उत्तेजना नहीं होती। इसी लाभ को दृष्टि में रखते हुये ब्रह्मचर्यप्रेमी सज्जन खूंटीवाली खड़ाऊ का प्रयोग करते हैं।

स्नान सदा भोजन से पूर्व ही करना चाहिये। क्योंकि यह पहले ही लिखा जा चुका है कि स्नान के पश्चात् भूख भी खुलकर लगती है। किन्तु स्नान के तुरन्त ही पश्चात् पित्त आदि दूषित होने और पाचनक्रिया पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस लोकोक्ति **''सौ काम छोड़कर खा, हजार काम छोड़कर नहा''** से यही सिद्ध होता है कि भोजन से स्नान दशगुणा आवश्यक है। इसलिए भोजन से पूर्व स्नान करना चाहिये। किसी संस्कृत के कवि ने इस भाव को कितना अच्छा प्रकट किया है:—

'शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्त्रं स्नानमाचरेत्।

सौ काम छोड़कर भोजन करे, हजार काम छोड़कर स्नान करे। मनुष्य खाकर पछताता है, नहाकर नहीं पछताता। स्नान से तो तुरन्त ही उत्साह, स्फूर्ति, पवित्रता आदि गुणों की प्राप्ति होती है और सात्त्विक वृत्ति का उदय होता है। भोजन के पश्चात् मनुष्य को आलस्य और तन्द्रा दबा लेती है। एक प्रकार से कुछ अंश में तमोगुण छा जाता है।

'न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा' ।। मनु० अध्याय ४ श्लोक १२९।।

भोजन करके स्नान न करे, मनु जी महाराज की आज्ञा के विरुद्ध भोजन करने के पश्चात् स्नान करने से अनेक उदरविकार होजाते हैं। यदि किसी विशेष कारण से भोजन के पीछे स्नान करना ही पड़े तो भोजन के कई घण्टे पश्चात् करना चाहिये। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है, '' भोजन से पूर्व स्नान अवश्य करना''

(सत्यार्थप्रकाश, ३ समुल्लास)

स्नान करते समय शरीर पर **''न वासोभिः सह स्नानमाचरेत्''**। मनु० अ० ४ श्लोक १२९ ''वस्त्रों के साथ स्नान न करे'' मनु जी की इस आज्ञा के अनुसार वस्त्र नहीं रखने चाहियें। वस्त्र पहने हुए स्नान भलीभांति नहीं होसकता। सदैव वस्त्र पहने रहने से मनुष्य का शरीर निर्बल होजाता है। अतः प्रातःकाल की वायु जब खुले शरीर पर लगती है वह संजीवनी बूंटी के समान शक्ति प्रदान करती है और खुले शरीर स्नान करने से शरीर की सहनशक्ति बढ़ती है। फिर शीत और उष्णता के प्रभाव से शरीर की कोई हानि नहीं होती किन्तु लाभ ही होता है। केवल एक लङ्गोट पहनकर नहाना ही भारतीयों की सर्वश्रेष्ठ प्राचीन रीति है। इससे सारे शरीर का घर्षण करने (रगड़ने) की पूरी सुविधा रहती है। पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे लोग सर्वथा नंगे होकर भी स्नान करते हैं। किन्तु यह असभ्यता और जंगलीपन है और भारतीय सभ्यता के सर्वथा विरुद्ध है। मनुस्मृति में लिखा है—

'न नग्नः स्नानमाचरेत्' (मनु० अ० ४ श्लोक ४४)

अर्थात् नङ्गा होकर स्नान न करे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में मुनिवर चाणक्य लिखते हैं—

'न नग्नो जलं प्रविशेत्'' (कौटलीय अर्थशास्त्र सूत्र ४०७)

अर्थात् नंगा होकर जल में स्नान न करे।

इसलिए हमारे ऋषियों ने इसका सर्वथा निषेध किया है।

नदी, तडाग आदि का स्नान अच्छा है, किन्तु ''अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख और जो तैरना न जाने तो डूब भी सकता है।'' (सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास)। यह वाक्य महर्षि दयानन्द जी का हमारे लिए कितना अमूल्य है।

मनु जी महाराज का भी ऐसा ही आदेश है—

''नाविज्ञाते जलाशये'' (मनु० अ० ४ श्लोक १२९)।

अविज्ञात जलाशय (तालाब आदि) में प्रविष्ट होके स्नानादि न करे। अन्यथा हानि ही होने की सम्भावना है।

प्राचीन ऋषियों ने शुद्ध जलपान और इसी के द्वारा स्नान करने पर बड़ा बल दिया है। सामान्य लोग कौनसा जल-शुद्ध पवित्र वा गुणकारक है, इसका भलीभांति ज्ञान नहीं रखते।

चरकसंहिता-सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में लिखा है—

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
यत्पतत्पतितं चैव देशकालवपेक्षते।। १६३।।

आकाश से मेघ के सब जल एक से ही गिरते हैं, किन्तु वे गिरते हुये तथा गिरकर देश और काल की अपेक्षा रखते हैं। अन्तरिक्ष से जल जो बरसता है वह अत्यन्त स्वच्छ होता है किन्तु मार्ग में धूली गैस आदि मल अतिशीत और उष्णता आदि के संसर्ग से रूप-रस आदि गुणों तथा हित-अहित में भिन्नता आजाती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर गिरकर वहां वहां की मिट्टी वा मिट्टी में स्थित धातु क्षार आदि के संसर्ग से उनमें भिन्नता आजाती है। इसके विषय में सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान के ४५ वें अध्याय में खूब खोलकर लिखा है—

जिस अन्तरिक्ष जल में धूल आदि नहीं मिलती और शुद्धरूप में नीचे गिरता है उसे अच्छे पात्र में औटाकर कितने ही वर्ष रखें, वह गंगाजल के समान न सड़ता है न बिगड़ता है। इसलिए इस सर्वोत्तम जल का नाम सुश्रुत ने ''गाङ्ग'' रखा है और जिसमें धूल आदि मल तथा अन्य हानिकर गैसें मिल जाती हैं अत: समुद्र के समान अत्यन्त अशुद्ध होने से इसको सुश्रुत ने 'सामुद्र' नाम दिया है।

शुद्धजल के चरकसंहिता में छ: गुण दिये हैं—

शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्।
प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते।।

(सूत्रस्थान अध्याय २७ श्लोक १९५)

अन्तरिक्षजल के स्वाभाविक गुण (१) शीतल (२) पवित्र (३) कल्याणकारक (४) धूलि आदि से रहित वा आस्वाद में प्रिय (५) निर्मल (६) लघु (हल्का) ये छ: हैं। गिरने पर पात्र की अपेक्षा से यह दोषों को धारण करता है और जैसे स्थान पर गिरता है वैसे ही गुण इसमें आजाते हैं। इसलिये स्नान के समय यदि वर्षा होने लगे तो ब्रह्मचारी को वर्षा में स्नान करके खूब आनन्द लूटना चाहिए। जो अन्तरिक्ष से गिरते समय वर्षा का जल स्वच्छ पात्र में इकट्ठा किया जाता है, धीर मेधावी लोग उसे 'ऐन्द्र' अर्थात् इन्द्र का जल कहते हैं और उसका श्रेष्ठपुरुष वा राजा लोग पान करते हैं। यह आश्विन के महीने में ग्रहण किया जाता है। वर्षाजल के सेवन का विधान सुकुमार अर्थात् ब्रह्मचारियों के लिये चरक और सुश्रुत ने विशेषतया किया है। वर्षाजल भी शरद् ऋतु का सर्वश्रेष्ठ होता है।

इसके विषय में लिखा है:—

राजभी राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवै:।
संगृहीता: शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषत:।।

(चरकसंहिता सूत्रस्थान। अध्याय २७ श्लोक २०५)

राजाओं, धनी-मानी राजपुरुषों और सुकुमार अर्थात् ब्रह्मचारियों को शरद् ऋतु में विधिपूर्वक इकट्ठे किये हुये जलों का विशेषतया प्रयोग करना चाहिए।

चरक में शरद् ऋतु के जल के विषय में लिखा है:—

तनु लघ्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति।
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्निग्धभूयिष्ठभोजनाः।
तेषां भक्ष्ये च भोज्ये च लेह्ये पेये च शस्यते।।

(सूत्रस्थान। अध्याय २७ श्लोक २००।२०१)

शरद् ऋतु में जो जल बरसता है वह पतला और हल्का होता है। वह अभिष्यन्द वा क्लेश करनेवाला नहीं होता। वह जल सुकुमार ब्रह्मचारियों के लिए तथा अत्यधिक स्निग्ध (घृत आदि) भोजन करनेवाले पुरुषों के भक्ष्य भोज्य लेह्य तथा पेय चारों प्रकार के आहार में प्रशस्त है अर्थात् इसका प्रयोग स्नान, खान-पान आदि सभी आवश्यक कार्यों में श्रेष्ठ माना गया है। इसलिये ब्रह्मचर्यप्रेमियों को वर्षाजल के सदुपयोग से भलीभांति लाभ उठाना चाहिये।

संध्या और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारी के नित्यकर्मों में संध्या वा ईश्वरभक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसलिये महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं:-

"प्रथम शरीरशुद्धि अर्थात् स्नानपर्यन्त कर्म करके संध्योपासन का आरम्भ करें।" यही सब वेद-शास्त्रों की आज्ञा है। वैसे तो स्नान करने के पश्चात् ब्रह्मचारी ही क्या प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह न्यून से न्यून एक घण्टा प्रतिदिन संध्योपासना में लगावे। कितने दु:ख का विषय है कि सांसारिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तो दिन-रात एक कर दिया जाये और परमात्मा का चिंतन करने के समय, समय न मिलने का मिस (बहाना) बनाया जावे। इस लोक और परलोक दोनों में सुख और शांति चाहनेवाले मनुष्यों को जीवन के इस सर्वप्रथम कर्त्तव्य की अर्थात् संध्या की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए और प्रातः और सायं दोनों समय बहुत श्रद्धापूर्वक संध्योपासना करनी चाहिए। ब्रह्मचारी और संध्या का सम्बन्ध तो इस प्रकार का है जैसे प्राण और शरीर का। ब्रह्मचारी कौन है? वेद भगवान् इसका उत्तर देता है "**ब्रह्मचारीष्णंश्चरित रोदसी उभे**" (अथर्ववेद ११ कां० सूक्त ५ मन्त्र १) जो ब्रह्म को बार-बार चाहता हुआ, खोजता हुआ दोनों लोकों में विचरता है वही ब्रह्मचारी है क्योंकि ब्रह्मचारी ब्रह्म की निरन्तर खोज करता हुआ वन में, पर्वत में, इस लोक में, परलोक में, द्यावा में, पृथ्वी में, स्थूल में, सूक्ष्म में,

आकाश में, पाताल में, सर्वत्र सारे ही संसार में विचरता है। वह मारा-मारा फिरता है। इसको प्राप्त किये बिना उसको शांति कहां? इसलिये "**ब्रह्म इष्णन् चरतीति ब्रह्मचारी**" ब्रह्म की खोज वा प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व लुटा देता है।

किसी सच्चे ब्रह्मचारी गुरु की शिक्षा, सत्सङ्ग, पथप्रदर्शन और निरन्तर निरीक्षण के बिना ब्रह्मचर्यपालन में सफल होना असम्भव है। क्योंकि अनुभवी सच्चा ब्रह्मचारी ही किसी को ब्रह्मचारी बना सकता है। इसलिए वेद ने "**आचार्यो ब्रह्मचारी**" ब्रह्मचारी ही आचार्य होसकता है इस तथ्य को प्रकट किया है। आचार्य की ब्रह्मचर्यरूपी अग्नि से ही ब्रह्मचारी में भी उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की अग्नि प्रदीप्त हो उठती है। जैसे "**दीपाद्दीपमिवान्तरम्**" जलते हुए दीपक से दूसरा दीपक जलाया जासकता है। बुझा हुआ दीपक दूसरे दीपक को जलाने में असमर्थ है। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में कहा है कि '**आचार्यः पूर्वरूपमन्तेवासी उत्तररूपम्**' अर्थात् आचार्य पूर्वरूप है और ब्रह्मचारी उसका उत्तररूप है। निष्कर्ष यह है कि जैसा आचार्य होता है वैसा भी ब्रह्मचारी भी होता है। मानो आचार्य ही स्वयं ब्रह्मचारी में घुसकर अपना रूप प्रकट करता है।

सब गुरुओं का गुरु और आचार्यों का आचार्य वह परम ब्रह्मचारी परमेश्वर है। इसमें योगदर्शन का प्रमाण है। "**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**" (समाधि० सू० २६) वह ईश्वर पूर्व (आदि) गुरुओं का भी गुरु है, काल सीमा उसके लिए नही है जैसे वह इस सर्ग का भी आदिगुरु है ऐसे ही अतीत और अनागत सर्गों का आदिगुरु अर्थात् गुरुओं का भी गुरु है। "**तस्य वाचकः प्रणवः**" (योग०समाधि०सूत्र०२७) उस आदिगुरु परमात्मा का नाम 'ओ३म्' है। इस नाम से प्रभु का नित्य सम्बन्ध है। अर्थात् सभी सर्गों में यह नाम उसका स्थिर रहता है। इसलिए उस परम ब्रह्मचारी 'ओ३म्' की शरण में आये बिना और उसका निरन्तर सत्सङ्ग किये किये बिना कोई कैसे ब्रह्मचारी बन सकता है? विषयभोगों का चक्र बड़ा प्रबल है। इनकी कीचड़ में बिना फंसे निकलना बहुत कठिन है। विषयों से सदा दूर रहनेवाले सच्चे ब्रह्मचारी गुरु की सहायता से ब्रह्मचारी इस दुर्गम मार्ग को पार कर सकता है और ऐसा सच्चा त्यागी और परम वैरागी गुरु तो केवलमात्र 'ओ३म्' है जो परम ऐश्वर्य का स्वामी होता हुआ भी विषयभोगों का स्पर्श तक नहीं करता। वह सर्वथा निष्काम है। इस परब्रह्म के ब्रह्मचर्य के सहारे यह क्षणभंगुर संसार टिका हुआ है नहीं तो कभी का नष्ट होगया होता। इसलिए इस परम सहायक की सहायता और आश्रय की ब्रह्मचारी को आवश्यकता है। जिस प्रकार

बालक माता की गोद में बैठकर सर्वथा निश्चिन्त और आनन्दमग्न होजाता है इसी प्रकार इस जगज्जननी का संरक्षण ब्रह्मचारी को सब विघ्न बाधाओं से बचा देता है।

"परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहायता से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध होजाते हैं। जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) बनने के अभिलाषी को रात दिन प्रणव (ओ३म्) का जप करना चाहिये। जैसे शीत के आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त होजाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म स्वभाव पवित्र होजाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।"

महर्षि दयानन्द जी के इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यपालन जैसे, महाकठिन कार्य की सिद्धि के लिये ईश्वरोपासना वा सन्ध्या की कितनी आवश्यकता है। क्योंकि सन्ध्या वा ईश्वरोपासना से ही ब्रह्मचारी का सम्बन्ध सीधा परम ब्रह्मचारी परमेश्वर से जुड़ जाता है और जब ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की साधना के लिए घोर तपस्या करता है तो ऐसे पुरुषार्थी ब्रह्मचारी का सहाय परमेश्वर भी करता है। करे भी क्यों नहीं? जबकि ब्रह्मचारी प्रभु का सबसे अधिक प्रिय पुत्र वा शिष्य ठहरा।

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

यह प्रश्नोपनिषद् का वाक्य इस में प्रमाण है। जो ब्रह्मचर्यरूपी तप की भट्टी में अपने आप को तपाते हैं उन्हीं का ब्रह्मलोक पर अधिकार है। पूर्ण ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मप्राप्ति का एकमात्र साधन है। विषयी लम्पट लोग भला ईश्वर को क्या प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्मप्राप्ति तो दूर रही ब्रह्मचर्य के बिना ईश्वरभक्ति भी पूर्ण नहीं होसकती और ईश्वरभक्ति के बिना ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होसकता। ईश्वरभक्ति और ब्रह्मचर्य, सामान्य मनुष्य को पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं किन्तु यथार्थ में हैं एक ही।

इसलिए ही वेद ने '**ब्रह्मचारीष्णन् चरति**' ब्रह्म की खोज करनेवाले को ही ब्रह्मचारी कहा है। इसलिये पंचयज्ञों में से ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना-पढ़ाना, संध्योपासना करना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना और दूसरे देवयज्ञ में केवल अग्निहोत्र का ही करना ब्रह्मचारी के लिये ऋषियों ने आवश्यक नित्य-कर्म ठहराया है। इसलिए संस्कारविधि में वेदारम्भ संस्कार में ब्रह्मचारी के नित्यकर्मों के विषय में यह आदेश आया है "**प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं**

कृत्वा दन्तधावनस्नानसंध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनापासनायोगाभ्यासान् नित्यमाचर। (गोभिल गृह्यसूत्र)

"रात्रि के चौथे पहर में जाग आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, संध्योपासना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का नित्य आचरण किया कर।"

इसलिए स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी को संध्योपासना करनी चाहिए। संध्या का अर्थ पञ्चमहायज्ञविधि में इस प्रकार लिखा है:—

संध्या शब्द का अर्थ

"संध्यायन्ति संध्यायते वा परं ब्रह्म यस्यां सा संध्या।"

भलीभांति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाए परमेश्वर का जिस में वह संध्या है।

संध्या का समय

"तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः।"

रात और दिन के संयोग समय दोनों संध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना, उपासना करनी चाहिये।

महर्षि दयानन्द जी इस विषय में सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं—

"संध्या अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही समय में करें। दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं।" मनु जी का भी इसमें प्रमाण है:—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्।।

(मनु०अ० ४ श्लोक ९३)

फिर उठकर दिशा जङ्गल होकर पवित्र हो एकाग्रचित्त से प्रातः सन्ध्या में बहुत काल पर्यन्त जप करता रहे और सायं सन्ध्या को भी अपने काल में देर तक करे।

पहले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि, राग द्वेषादि के त्याग से भीतर की शुद्धि भी अवश्य करें। क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वरप्राप्ति का एकमात्र साधन है। जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्यविषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य रीड में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होजाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से

पूर्ण होजाता है। नित्य-प्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है। ईश्वरभक्ति का यह फल तो पृथक् होगा ही 'परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी-सी बात है ?'' इसलिए ''जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासना भी किया करें। न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान करें।'' यदि अधिक समय हो तो गायत्री मन्त्र वा '**ओ३म्**' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ विचार कर नित्य प्रति जाप किया करें। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवें। मनु जी महाराज का इस विषय में यह आदेश है:—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधियीत गत्वारण्यं समाहितः।।

(मनु० अध्याय २ श्लोक १०४)

स्वामी दयानन्द जी महाराज इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:-

जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में ईश्वरभक्ति पर बड़ा बल दिया है। ''**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**'' (समाधिपाद सूत्र २३) ईश्वर के प्रणिधान (भक्ति) से (निकटतम) समाधि होती है। अर्थात् जब मनुष्य अनन्यचित्त होकर ईश्वर की संध्योपासना में तत्पर होता है तब ईश्वर अपने भक्त की इस भक्ति से प्रसन्न होकर कृपादृष्टि डालते हैं, जिससे भक्त योगी की समाधि सिद्ध होजाती है।

संध्या में मन कैसे लगे ?

संध्या करनेवाले लोग प्रायः सभी यह शङ्का करते रहते हैं कि संध्या के समय संध्या में मन नहीं लगता। इसका मुख्य कारण तो यही है कि लोग संध्या के मन्त्रों का अर्थ याद नहीं करते। महर्षि पतंजलि के इस आदेश को वे भूल जाते हैं:—

''**तज्जपस्तदर्थभावनम्।**'' (योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २८)

ओ३म् का जप और उसके अर्थ का चिन्तन करना ही ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर की भक्ति है। ओ३म् का जप उसके अर्थ के चिन्तन के साथ जो करता है उसका चित्त एकाग्र होजाता है।

आदित्य ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द जी इस प्रकार के जप करने के लिए बड़ा

बल देते हैं। उन्होंने एक स्थान पर कहा है:—

"उसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये।"

वे ब्रह्मचारी के लिए रात-दिन प्रणव का जप करना ब्रह्मचर्यपालन का मुख्य साधन मानते हैं। उनके जीवन में इस प्रकार आता है।

"रात को यदि जप करते हुये आलस्य बहुत बढ़ जाये तो दो घण्टे गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और पूर्ववत् प्रणव पवित्र का जप करना आरम्भ करदे।"

उनका अपना जीवन भी इसका प्रतीक वा प्रत्यक्ष उदाहरण है। ४९ वर्ष की आयु तक तो ऋषिवर का सारा जीवन योगाभ्यास ईश्वरभजन और तपश्चर्या में बीता। वे रात-दिन ईश्वर के ध्यान में ही मग्न रहते थे। इसी ईशभक्ति के कारण प्रभु ने उनकी आत्मा में एक ऐसी अद्भुत शक्ति और बल का संचार किया जिससे थोड़ेसे (दस वर्ष के) समय में सन्मार्ग पर चलते हुए संसार को ही पलट डाला और सारे संसार को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। वे अपने व्याख्यानों में इन वाक्यों को बार-बार कहा करते थे—"जब कोई जन अपने सच्चे मन से, अपने आत्मा से, अपने प्राण से और सारे सामर्थ्य से परमेश्वर का भजन करता है तब वह कृपामय परमात्मा उसको अपने आनन्द में निमग्न कर देता है। जैसे छोटा बालक घर की छत पर अथवा नीचे से अपने माता-पिता के पास जाना चाहता है तो उसके माता-पिता इस भय से कि हमारे पुत्र को इधर-उधर गिर पड़ने से कष्ट न हो, अपने सहस्रों कामों को छोड़ दौड़कर उसे गोद में उठा लेते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमात्मा की ओर यदि कोई सच्चे आत्मभाव से चलता है तब वह भी अपने अनन्त शक्तिमय हाथों से उस जीव को उठाकर सदा के लिए अपनी गोद में रख लेता है। फिर उसको किसी प्रकार का कष्ट (क्लेश) नहीं होने देता और वह जीव सदा आनन्द में ही रहता है। परमात्मा माता-पिता की भांति अपने भक्तों को सदा सुख-सम्पन्न करने की ही कृपा करता है।" उनकी इन वाक्यों पर अटल श्रद्धा और ध्रुव धारणा थी।

जिन्होंने उनके दर्शन किये हैं वे बताते हैं कि जब ऋषिराज ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्र उच्चारण करते थे तब प्रेमरस का एक सागर-सा उमड़ पड़ता था। उनके शब्द सजीव होते थे। वाक्यों में भक्तिभाव ओत-प्रोत रहता था। उनका एक-एक वचन श्रोताओं के अन्तःकरण को स्पर्श करता था। उस समय उस अपूर्व भक्तिरस के प्रवाह में लोग ऐसे डूब जाते थे कि उनको देश काल तक का

भी ज्ञान न रहता था। वे ईश-भक्ति में लीन होजाते थे। उपदेश के आरम्भ में ऋषिवर मधुरस्वर में ओ३म् का नाद सुनाया करते थे, तो वह भी एक मोहन मन्त्र बन जाया करता था। एक बार राव युधिष्ठिर के निमन्त्रण पर ऋषिवर रिवाड़ी पधारे और अपने व्याख्यान में एक दिन ऐसे मीठे स्वर से सामगान किया कि लोगों के चंचल चित्त भी तुरन्त एकाग्र होगए और सब श्रोताओं की समाधि लग गई। ऐसे वृद्ध पुरुष जो उस समय उनके विरोधी थे उन पर भी ऐसा प्रभाव पड़ा कि आज तक वे उनकी प्रशंसा के गीत गाते नहीं थकते। जब उन्हें ऋषिवर के सामगान का स्मरण आजाता है तब वे आज भी गद्गद् होकर झूमने लगते हैं और उन्हें रोमाञ्च होजाता है।

कुछ वर्ष हुए ऐसे वृद्ध के रिवाड़ी में मैने स्वयं दर्शन किए और उन्होंने महर्षि की ऐसी अनेक घटनायें मुझे सुनाईं। उनकी प्रार्थनायें भक्ति और प्रेम-रस से कैसी परिपूरित होती थीं। नीचे लिखी प्रार्थना से इस पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है:—

"हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणाधार, प्राणजीवन! आपके बिना मेरा सहायक (दूसरा) कोई भी नहीं है। मेरे ईश्वर! मैं अत्यन्त दीनभाव से यह वर मांगता हूं कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूं।"

"आप आश्चर्यगुण, आश्चर्यशक्ति, आश्चर्यस्वरूप और सर्वोत्तम हो। न कोई आपके समान है और न कोई आपसे महान् है। हे सर्वज्ञ! आप ही स्तुति करने के योग्य हो। सत्पुरुषों के प्रतिपालक आप ही हो। अपने भक्तों को परमानन्द प्रदान करना आपका सत्यव्रत है। आप देवों के भी देव हो। आपके अनुग्रह से हम परस्पर प्रेमपूर्वक रहें, सदैव आपकी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, आपको ही पिता-माता बन्धु, राजा मानें, स्वामी और सहायक समझें। आप ही को सुख-दाता, सुहृद् और परम गुरु जानें। आपके तुल्य तथा आपसे अधिक किसी को कभी भी स्वीकार न करें। क्षणमात्र के लिए भी आपको न भूलें। हे करुणामय! जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन कीजिए।"

उन्होंने अपनी जीवनयात्रा समाप्त करते समय जो प्रार्थना की थी वह उनकी ईश्वरभक्ति का और प्रभुप्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है। वैसे तो स्वामी जी महाराज को पापियों ने १६ बार विष दिया था किन्तु वेश्या के षड्यन्त्र से जोधपुर में अन्तिम बार भयंकर हालाहल विष दिया गया और वह सारे शरीर में रोम-रोम से फूटकर निकलते लगा। उनकी इस भयंकर अवस्था को देखकर डाक्टरों ने कहा—"यदि ऐसा भयंकर विष किसी और मनुष्य को दिया जाता तो वह पांच मिनट में ही मर

जाता।'' जोधपुर महाराज का डाक्टर अलीमर्दान खां जो अत्यन्त नीच प्रकृति का था, वह भी औषध के स्थान पर विष ही देता रहा। इस भयंकर विष के प्रभाव से प्रतिदिन सौ-सौ दस्त आने लगे। खून और आतें कट-कट कर गिरने लगीं। ऐसी भयंकर अवस्था होने पर भी महाराज जी अत्यन्त शांत और धर्य से रहे। अपने इस घोरतम कष्ट को इस प्रकार सहन करते थे कि मुख से एक बार भी हाय! वा अन्य कष्टसूचक शब्द न निकलता था। महाराज बड़ी सावधानता से रहे और बातचीत करते रहे।

मृत्यु के समय पर किसी प्रकार के शोक वा घबराहट के चिह्न न थे। उस दिन शौच के पश्चात् स्वयं पानी लिया, हाथ धोए और दातौन की। पुनः पलंग पर कुछ देर बैठकर लेट गये। श्वास बड़े वेग से चल रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि महाराज श्वास रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं। किसी ने पूछा आपका चित्त कैसा है ? तब कहा कि अच्छा हैं, एक मास के पश्चात् आज आराम का दिवस है। लाला जीवनदास ने पूछा, आप कहां हैं ? तब कहा कि ईश्वरेच्छा में। महाराज ने पक्ष तिथि और वार पूछा। किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष का अन्त और शुक्ल पक्ष का आदि, अमावस्या और मंगलवार है। यह सुनकर छत और दीवारों की ओर दृष्टि की। पुनः कई वेदमन्त्र पढ़े। तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वरोपासना की और भाषा में ईश्वर का गुणकीर्त्तन किया और फिर बड़ी प्रसन्नता और हर्षपूर्वक गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे।

उस समय उसके स्वर्णाभ मुखमण्डल के चारों ओर सुप्रसन्न प्रभात की झिलमिलाहट पूर्णरूप से झिलमिल कर रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि जिस शिव की खोज वा प्राप्ति के लिए बाल्यकाल में धनधान्य से परिपूर्ण घरबार को छोड़कर आये थे, आज उसी महादेव के साक्षात् दर्शन कर कृतकृत्य हो ऋषिवर हर्ष से फूले नहीं समा रहे थे। इस प्रकार कुछ देर समाधिस्थ होकर आँखें खोलदीं और यों कहने लगे 'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा! तूने अच्छी लीला की।''

महाराज उस समय सीधे लेट रहे थे। यह शब्द कहकर उन्होंने स्वयं ही करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एकदम बाहर निकाल दिया। महाराज की मानवी लीला समाप्त हुई। उनका आत्मा नश्वर देह को छोड़कर जगज्जननी की प्रेममयी गोद में जा विराजा।

महाराज के मृत्युदृश्य को पण्डित गुरुदत्त चुपचाप खड़े हुए देख रहे थे। वह

यद्यपि आर्यसमाज के सभासद् थे, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व में उनको सन्देह था। उन्होंने देखा कि एक योगी और ईश्वर का सच्चा विश्वासी मृत्यु पर कैसे विजय पा सकता है। इस दृश्य को देखकर उनके सारे सन्देह दूर होगये, जो उस समय तक किसी युक्ति से दूर न हुए थे और सच्चे आस्तिक बन गये।

कविरत्न आचार्य मेधाव्रत जी ने इन्हीं भावों को कुछ श्लोकों द्वारा कितने सुन्दर ढ़ंग से प्रकट किया है—

अतिदारुणदेहदुर्दशास्वपि शान्तस्य महात्मनो मुखात्।
मुदिताद् विजितेन्दुमण्डलान्मधुरं मन्त्रजगीतममृतम्।।९७।।
स निपीय निजश्रवःपुटैर्भगवद्भाविसुभक्तमण्डनः।
गुरुदत्तबुधोऽतिनास्तिको गुरुदेवात्मबलेन विस्मितः।।९८।।
परमं पदमेष्यतो यतेः प्रभुभक्तिपरमां विलोक्य ताम्।
स्वमनोमुकुरं शिवास्तिता-द्युतिभिर्दीपितमन्वभूदरम्।।९९।।

(दयानन्ददिग्वजय। सर्ग–२७)

देह की अतिभंयकर दुर्दशा में भी शान्तशील महात्मा के चन्द्रमण्डलविजयी प्रसन्न मुख से निकलते हुए मधुर मन्त्रगीतामृत को अपने कर्णपुटों से पीकर भगवान् के भावी भक्तशिरोमणि अतिनास्तिक पण्डित श्री गुरुदत्त जी गुरुदेव के आत्म-बल को देखकर आश्चर्यसागर में डूब गये।।९७-९८।।

परमपद को पधारनेवाले योगीश्वर की परम प्रभुभक्ति को देखकर गुरुदत्त का चित्तदर्पण सृष्टिकर्त्ता प्रभु की विद्यमानता की प्रभा से अत्यन्त प्रकाशित होगया अर्थात् वे आस्तिक बन गये।।।९९।।

एक हिन्दी के कवि ने महर्षि की ईश्वरभक्ति की प्रशंसा में निम्न शब्द कहे हैं—

''भक्तिरस में दयानन्द ऐसे बहे, पूर्ण जन्म अहिंसक ब्रह्मचारी रहे।
धर्म-जाति के हित लाखों संकट सहे, मरते दम भी ये वचन मुख से कहे।
तेरी इच्छा हो पूर्ण ऐ प्यारे प्रभु, ओं भूः ओं भूः ओं भूः ओं भूः।।''

इस युग के विधाता आदर्श ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द के विषय में ईश-भक्ति और संध्योपासनासम्बन्धी इन उद्वरणों से यही सिद्ध होता है कि ईशभक्ति वा संध्यावन्दन ब्रह्मचारी के प्राण हैं। संध्यावन्दन की प्रणाली इस देश में आदिसृष्टि से चली आई है।

संध्या के विषय में मनु जी ने कहा है—

ऋषयोदीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च।। ६४।।

(मनु०अध्याय ४)

ऋषि लोग चिरकाल तक संध्यावन्दन करने के कारण दीर्घायु सुबुद्धि, यश, सुकीर्ति और निश्चय करके ब्रह्मतेज को प्राप्त हुए हैं।

इसलिए जो उक्त कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है वह भी दीर्घायु आदि को प्राप्त होता है।

हमारे प्राचीन पुरुषा संध्या के महत्त्व को भलीभांति समझते थे। इसलिए सब नित्यकर्मों में उन्होंने संध्या को सर्वोच्च स्थान दिया था। वे अत्यन्त आवश्यककार्यों को भी छोड़कर संध्यावन्दन आदि किया करते थे। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्। १।

(वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड, षष्ठ सर्ग)

पुरोहित (वशिष्ठ जी) के चले जाने के पश्चात् रामचन्द्र जी ने अपनी धर्मपत्नी विशालाक्षी सीता के साथ स्नान किया और (दोनों स्नान कर) शुद्ध मन से नारायण के संध्योपासन में लग गये।

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम्।
पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप यतमानसः । ३।

(वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड, षष्ठ सर्ग)

(राम और सीता दोनों) सूत मागध और वन्दीजनों की सुखदायक वाणियों को सुनते हुए प्रातः संध्योपासन कर एकाग्रचित्त से गायत्री का जाप करने लगे।

संध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी। ५०।
यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतलजलां नदीम्। ५१।

(वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड, १४ सर्ग)

संध्याकाल में मनवाली, श्यामवर्णवाली, वरवर्णिनी सीता इस शुभ(सुन्दर) जलवाली नदी पर अवश्य ही आयेगी। ५०।।

यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीती है तो वह अवश्य ही इस शीतल जलवाली नदी पर आयेगी। ।५१।।

महाभारत में बाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर को दीर्घायु प्राप्ति के साधन बतलाते हुए कहा है—

ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात्तिष्ठेत्सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः ।।

(अनुशासन० अ० १०४ श्लोक १८)

नित्य प्रति संध्या करने से ऋषियों ने दीर्घ आयु प्राप्त की। इसलिए प्रातःकाल और सायंकाल वाग्यत (मौन) होकर संध्या करनी चाहिये।

अकृत्वा देवपूजां च नाचरेद् दन्तधावनम्।
अकृत्वा देवपूजां च नाभिगच्छेत्कदाचन।।

(महाभारत० अनु० अ० १०४ श्लोक ४५)

दातौन किए बिना देवपूजा अर्थात् संध्या न करे और संध्या किये बिना कहीं इधर उधर अपने कार्यों को करने के लिए न जावे।

संध्या पापों से हटाकर मनुष्य को धर्म की ओर लेजाती है। इस पर उनकी अटल श्रद्धा थी। जिसको मनु जी महाराज ने इस प्रकार प्रकट किया है—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्।।

(मनु० अध्याय २ श्लोक १०२)

प्रातःकाल की संध्या वा गायत्री का जप करता हुआ मनुष्य रात्रिभर के पापों का नाश करता है और सायंकाल की संध्या वा जप करता हुआ दिन के मलिन संस्कारों (पापों) का नाश करता है अर्थात् पाप करने की इच्छा नष्ट होजाती है।

महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"प्रत्येक दिन पवित्रता के लिए हृदय से की गई प्रार्थना उत्तरोत्तर पवित्र बनाती है।"

जिस प्रकार निवासस्थान की शुद्धि प्रतिदिन सायं-प्रातः झाड़ू लगाकर वा जल से धोकर की जाती है इसी प्रकार मनुष्य के हृदयमन्दिर को शुद्ध करना आवश्यक है जिस को कुसंस्कार दूषित करते रहते हैं। इन मलिनसंस्कारों के कूड़े-कर्कट को प्रातः और सायंकाल की संध्यारूपी झाडू वा जल से धोकर शुद्ध करना आवश्यक है। जिस प्रकार मलिनवस्त्रों को साबुन से धोकर शुद्ध किया जाता है

उसी प्रकार अन्तःकरणरूपी वस्त्र पर जमे हुए काम, क्रोध, राग-द्वेष रूपी मल को दूर करने के लिए संध्यारूपी साबुन की आवश्यकता है। जिस प्रकार प्रातःकाल का किया हुआ भोजन हमें सायंकाल तक कार्य करने की शक्ति देता है और सायंकाल का भोजन रातभर के लिए शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रातःकाल का किया हुआ संध्या-भजन वा ईश्वर-चिन्तन सायंकाल तक बुरे विचारों तथा पापों से बचाता है और सायंकाल की हुई ईश्वरोपासना रात्रिभर पापों और गन्दे विचारों तथा स्वप्नों से बचाती है। जिस प्रकार हम अपने माता-पिता वा गुरु के सम्मुख भय वा लज्जा के कारण चोरी और व्यभिचारदि पाप कर्म नहीं करते, उसी प्रकार पिताओं के पिता, माताओं की माता और गुरुओं का गुरु सर्वद्रष्टा 'ओ३म्' है। जिससे छिपकर हम कुछ भी नहीं कर सकते। जो हमारे कर्मों का फल सुख-दुःख के रूप में देता है। यदि हमें उसका ध्यान हो तो हम कैसे पाप कर सकते हैं ? हम उसे भूल जाते हैं तभी पापपंक में फंसते हैं, किन्तु वह अन्दर बैठा-बैठा हमें बार-बार सन्मार्ग पर चलने के लिए सचेत करता रहता है। इतना ही नहीं, जब कभी हमारे मन में पाप करने की प्रवृत्ति होती है, तब वह हमें अन्दर से बार-बार टोकता और रोकता है। हम यह अनुभव भी करते हैं, किन्तु प्रभु की चेतावनी को अनसुनी कर देते हैं। जब हम अच्छे कार्य करने लगते हैं उस समय हमें वह शुभ कर्म करने के लिए उत्साहित भी करता है।

महर्षि दयानन्द जी इस विषय में लिखते है—

जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।'' (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

किन्तु हम अपने ऐसे सच्चे रक्षक की भी नहीं सुनते और पाप वा कुमार्ग की ओर चलते रहते हैं, उसका भी रक्षा का हाथ हमारे सिर पर से उठ जाता है क्योंकि वह पापी का रक्षक वा साथी नहीं। ''**इन्द्र इच्चरतः सखा**'' ऐश्वर्यशाली इन्द्र भगवान् पुरुषार्थी का साथी है, ''**मा मर्त्यस्य मायिनः**'' कपटी, छली, दुष्ट का साथी नहीं। वह अनाथों का भी नाथ है, निराशों की आशा है। मनुष्य को इसे

किसी अवस्था में भी नहीं भूलना चाहिए। भूलनेवाले की अपनी ही हानि है। अपने कल्याण और स्वार्थ के लिए भी प्रातः सायं यदि मनुष्य श्रद्धापूर्वक उसका स्मरण करता रहे तो फिर किस लिए दुःख और क्लेश भोगने पड़ें।

इसी भावना को यह दोहा प्रकट करता है—

दुःख में सुमरण सब करें-सुख में करे ना कोय।
जो सुख में सुमरण करे-तब दुःरख काहे को होय।।

ईश उपासना के विना मनुष्य को सुख भी नहीं होता और वह कृतघ्न और पापी भी होता है।

महर्षि दयानन्द जी इस विषय में लिखते हैं—

''जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए देरखे हैं उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।'' (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

संध्या न करने पर दण्ड

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।

(मनु० अध्याय २ श्लोक १०३)

जो द्विज (ब्रह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) प्रातः संध्या नहीं करता और सायंकाल को भी सन्ध्योपासना नहीं करता उसको सब द्विजकर्मों से शूद्र के तुल्य बाहर कर देना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार शूद्र को द्विजों के यज्ञादि कर्मों में अधिकार नहीं इसी प्रकार वह भी शूद्रवत् होने से कर्मों में सम्मिलित होने का पात्र नहीं।

इसीलिए ऋषियों ने '**नैत्यिके नास्त्यनध्यायः**'' नित्यकर्मों में अनध्याय (छुट्टी) नहीं होता अर्थात् संध्या और अग्निहोत्र (हवन) आदि नित्य कर्म ब्रह्मचारी को अनिवार्यरूप से करने होते हैं।

महर्षि दयानन्द का कथन है-कि दो यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना पढ़ाना सन्ध्योपासना, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना उपासना करना, दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा, संग करना, परन्तु ब्रह्मचर्य में ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।'' (सत्यार्थप्रकाश समु० ३)

ब्रह्मचारी को ईश्वरभक्ति की क्यों आवश्यकता है ?

इस विषय में महात्मा गांधी जी लिखते हैं—

''याद रखिये! प्राणिमात्र की सेवा करने और इस प्रकार ईश्वर की महत्ता और प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मनुष्य परमात्मा का प्रतिनिधि है।''

''सदा उस अदृश्य शक्ति का विचार करो जिसे चाहे हम कभी भी न देख सकें तब भी हम अपने अन्दर रखवाली करते और प्रत्येक अपवित्र विचार को टोकते अनुभव करते हैं। फिर आप देखेंगे कि वह शक्ति सदा आप की सहायता कर रही है।''

''जब आपकी विषय-वासनायें आपको धर दबोचने की धमकी दें तब आप अपने घुटनों के बल बैठ जायें और परमात्मा से सहायता के लिए पुकार लगायें। ईश्वर का नाम हमारा अमोघ सहायक है। सहायता के लिए ठंडे पानी से भरे हुए टब में अपनी टांगें बाहर निकालकर लेटना चाहिये। ऐसा करने से आपकी विषयवासनाएं समाप्त होती दिखाई देंगी।''

''मुझे विश्वास होता है कि अपने को पूर्णरूप से ईश्वरार्पण किये बिना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती।''

''समस्त धर्म-पुस्तकों में मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्य के सूक्ष्मतम पालन के प्रयत्न में मैं उनकी सत्यता का अनुभव भी कर रहा हूँ।''

पूर्णतया मेरी समझ में केवल प्रभु प्रसादी है और इसलिए भक्त लोग अपनी तपश्चर्या से पवित्र करके गायत्री आदि मंत्र हमारे लिए छोड़ गये हैं।

ब्रह्मचर्य के सोलह आने पालन का अर्थ है ब्रह्मदर्शन। यह अर्थ मेरे सामने धीरे-धीरे सिद्ध होगया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र-वचन मैंने बाद में पढ़े। यह असिधारा व्रत है, निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूं। ईश्वर-दर्शन के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत अनिवार्य है, ब्रह्मचर्य के आकांक्षी की प्रार्थना अन्तिम चरण है किन्तु उपादेयता में यह किसी से कम नहीं है। प्रत्येक दिन ब्रह्मचारी को पूरे मन से ईश्वर का नाम जपना चाहिए और ईश्वरीय कृपा मांगनी चाहिये।

पाशवी कामलिप्सा के संयम में हमारा सबसे अधिक शक्तिशाली सहायक ईश्वर का नाम है।

जो मन्त्र भावे वही भजा जावे। मैंने ईश्वर के एक नाम का संकेत किया है। जो भी मन्त्र चुना जाये उसमें पूर्णतया तन्मय होजाना चाहिए। यदि दूसरे विचार जप

को बीच में भंग करें तो इसकी चिन्ता न करनी चाहिये। मुझे विश्वास है कि जो भी श्रद्धा से जप करता चला जायेगा वह अन्त में अवश्य जीतेगा। मन्त्र जीवन की लकड़ी बन जाता है और अपने जपनेवाले को प्रत्येक परीक्षा में से निकाल लेजाता है। यह ध्यान रहे कि मन्त्र को तोते की तरह न रटना चाहिए। अपनी आत्मा उसके अन्दर प्रवेश करा देनी चाहिए। तोता ऐसे मन्त्रों को मशीन की नाई रटता है। हमें चाहिए कि अवांछनीय विचारों को बाहर करने की आशा में ....पूर्ण श्रद्धा रखकर उनका जप करें।''

संध्या के अतिरिक्त यदि कोई ब्रह्मचारी जप में अधिक समय लगाना चाहे तो गायत्री मन्त्र वा प्रणव अर्थात् ओ३म् का जाप करना चाहिए। यही सर्वमान्य प्राचीन शास्त्रीय पद्धति है जिसे ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त सब ऋषि-महर्षि मानते हैं।

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य परम विद्वान् श्री स्वामी विरजानन्द जी महाराज आदर्श ब्रह्मचारी और अपने समय के अद्वितीय पंडित थे। व्याकरण के तो वे सूर्य कहलाते थे। इन्हीं की कृपा से इनके शिष्य प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द पूर्ण विद्वान्, पूर्ण योगी तथा पूर्ण ब्रह्मचारी बने। जो आगे चलकर पतित भारत के भाग्यविधाता और विश्व के सुधारकों के शिरोमणि कहलाए। उस महापुरुष स्वामी विरजानन्द जी महाराज के विषय में स्वाध्यायशील व्यक्ति जानते हैं कि विरजानन्द बाल्यकाल से अन्धे थे। उनके पाँच वर्ष की आयु में दोनों चक्षुरत्न जाते रहे थे। पुनः वे इतने ऊँचे महात्मा और विद्वान् कैसे बने? वे चौदह वर्ष की आयु में गृहत्याग कर मार्ग में अनेक कष्ट सहते हुए ऋषिकेश पहुँच गये। यह स्थान बहुत काल से ही पुण्यप्रद पवित्र स्थान माना जाता है। उनको उपनयन (जनेऊ) संस्कार के समय गायत्री की दीक्षा दीगई थी। यह सुना था ''कि पवित्र गायत्री मन्त्र की सिद्धि के बल से मनुष्य ईश्वर तक का साक्षात् दर्शन कर सकता है।'' बालक के सरल हृदय पर यह अमिट छाप लग गई और उसको दृढ़ निश्चय होगया। इसी कारण ऋषिकेश में आकर उसने एकमात्र गायत्री का अवलम्बन (आश्रय) किया और अनन्यचित्त होकर वह श्रद्धापूर्वक गायत्री का जप करने लगा। प्रातःकाल, सायंकाल, यहां तक की कभी-कभी रात्रि के मध्य में भी वह गायत्री की सिद्धि में लगे रहने लगे। इस के अतिरिक्त प्रातःकाल स्नान के पश्चात् गंगा के निर्मल जल में कण्ठ तक निमज्जित होकर बहुत देर तक वे गायत्री का जप किया करते थे। जप में ब्रह्मचारी विरजानन्द की ऐसी दृढ़ता देखकर ऋषिकेश के लोग आश्चर्यान्वित होगये और यदि सब नहीं तो अधिकतर ऐसी बातें कहने लगे-कि यह तरुण

तपस्वी बुद्धि वा देवजनस्पृहणीय किसी दुर्लभ वर की प्राप्ति के लिए ऐसा उग्र तप कर रहा है।

उस समय का ऋषिकेश इस समय के ऋषिकेश के समान निरापद नहीं था। समय-समय पर वन के पशुओं के उपद्रव के कारण वहां के निवासियों को कष्ट होता था। कभी-कभी ऐसा होता था कि जंगली पशु रात्रि में आकर विरजानन्द की छोटीसी कुटिया को तोड़ जाते थे। ऋषिकेशनिवासी विरजानन्द प्राय: फल-मूल खाकर ही दिन बिताते थे। कभी-कभी मन्दिर वा क्षेत्र में जाकर भोजन कर आते थे। परन्तु इस प्रकार के विघ्न और बाधाओं के होते हुए भी विरजानन्द एक दिन के लिए भी अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं हुए, वह अपने संकल्प पर दृढ़ और स्वावलम्बित साधना पर अविचलित रहकर बहुत दिन काल-यापन करते रहे। उन्हें जब इस प्रकार रहते हुये कई दिन बीत गये तो अकस्मात् एक दैवी घटना उपस्थित होगई। विरजानन्द रात्रि में सोये हुए थे। सोते सोते उन्हें एकदम यह शब्द सुनाई दिये—

''तुम्हारा जो कुछ होना था वह होचुका, अब तुम यहां से चले जाओ।

इन शब्दों के सुनते ही विरजानन्द की निद्रा भंग होगई और एक भयभीत मनुष्य की नाई उठकर इधर-उधर ढूंढने लगे। थोड़ी ही देर में उन्हें मालूम होगया कि उनके पास वा उनकी कुटिया में कोई मनुष्य नहीं है और कोई था भी नहीं। उन्होंने इन सुने हुए शब्दों को दैव वाणी करके ग्रहण किया और जितने बार भी उस वाणी पर विचार किया उतने बार वह चिन्तित हुये।

अस्तु, ऋषिकेश छोड़ने के लिए ही उन्हें यह दैवाज्ञा हुई है यह समझकर उन्होंने ऋषिकेश छोड़ने में विलम्ब नहीं किया। कनखल में पूर्णाश्रम जी विद्या में और वैराग्य में पूर्ण थे, उनसे संन्यास लिया, कुछ दिन तक उनसे अध्ययन भी किया। अन्यत्र भी इसी प्रकार अध्ययन करते रहे, साथ-साथ पढ़ाने का भी काम करते रहे।

पाठक! आश्चर्य करेंगे कि वे चक्षुहीन होते हुये किस प्रकार पढ़े। विरजानन्द ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य के प्रभाव और गायत्री की सिद्धि से उनकी स्मृति, धारणाशक्ति उज्ज्वलतर होगई थी। बाह्यचक्षु भले ही बन्द थे किन्तु भीतर के प्रज्ञाचक्षु खुल गये थे। इसलिए ये प्रज्ञाचक्षु कहलाते थे। विशेषतया गायत्री मन्त्र की सिद्धि के कारण वे धारणावती मेधाबुद्धि के धनी होगये थे।

गायत्री मन्त्र के जप का विशेषफल ही स्मरणशक्ति की प्रखरता और बुद्धि की कुशाग्रता है। इसी के फलस्वरूप प्रियतम प्रभु ने ये दोनों शक्तियां अपने प्रिय पुत्र विरजानन्द को प्रदान कीं। इन्हीं शक्तितयों के बलबूते पर स्वामी विरजानन्द ने

अन्धे होते हुए भी संसार के अविद्यान्धकार को छिन्न-भिन्न कर डाला। यह सब गुरुमन्त्र के गुणगान और जप का ही फल समझना चाहिए।

यह मन्त्र संस्कारविधि के वेदारम्भप्रकरण में अर्थसहित दिया गया है। पाठक वहां से कण्ठस्थ कर श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन जप करके लाभ उठावें। इस मन्त्र का छन्द गायत्री है, इसलिए इसका नाम गायत्री पड़ गया है। इस मन्त्र का देवता (विषय) सविता है इसलिए इसे सावित्री भी कहते हैं। बालक को वेद अधिकार देने के लिए आचार्य वा गुरु सर्वप्रथम इस मन्त्र का उपदेश देते थे, इसलिए यह मन्त्र गुरुमन्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगया। यह मन्त्र वेदों के सब मन्त्रों में शिरोमणि माना गया है। जो इस विषय में अधिक जानना चाहें वे महर्षि दयानन्द जी कृत **सत्यार्थप्रकाश** आदि ग्रन्थ तथा स्वामी वेदानन्द जी कृत **सावित्री-प्रकाश** पढ़कर लाभ उठावें।

इसी प्रकार प्रणव (ओ३म्) के जप का भी महत्त्व है। वैसे तो परमात्मा के अनन्त गुण और कर्मों के कारण नाम भी अनन्त हैं। बहुत से तो ऐसे नाम हैं, जो परमात्मा के भी हैं और अन्य पदार्थों के भी। जैसे—न्यायकारी और दयालु परमात्मा के नाम हैं, किन्तु न्याय करनेवाला और दया करनेवाला मनुष्य भी न्यायकारी और दयालु कहलाता है। ओ३म् एक ऐसा नाम है जो परमात्मा को छोड़कर और किसी का नाम नहीं।

''**तस्य वाचकः प्रणवः**'' से यह सिद्ध किया जाचुका है कि जप करने के लिए तो केवल ओ३म् नाम का ही प्रयोग करना चाहिए। वेदादि शास्त्रों में परमात्मा का मुख्य नाम ओ३म् ही बताया गया है। हमारे प्राचीन पुरुषा ऋषि-महर्षि सभी जप के लिए ओ३म् नाम का ही अनुष्ठान और इसी का व्यवहार और प्रचार करते आये हैं।

पौराणिकयुग में धर्म के ठेकेदारों ने अवतारवाद को सिद्ध करने और प्रचार करने के लिए राम, कृष्ण आदि; जो हमारे महापुरुषों के नाम थे, वे ही परमात्मा बना डाले और उनका खूब प्रचार किया और उन्हीं नामों से दीक्षा भी देने लगे, उसी भ्रम में पड़े साम्प्रदायिक लोग आज भी राम नाम आदि का कीर्तन और जप करते हैं। यही प्रभाव महात्मा गांधी आदि आधुनिक नेताओं पर भी पड़ा है और इसी कारण राम नाम आदि के जप का प्रचार करते रहे हैं।

पाठक! भ्रम में न पड़ जायें, इसलिए मैंने उनके ईश्वरभक्तिसम्बन्धी जिन उद्धरणों में ओ३म् वा ईश्वर नाम का बार-बार प्रयोग किया है, वह उनके आशय के अनुकूल ही है।

ओ३म् नाम में सबसे बड़ी एक विशेषता यह है। जैसे—एक मनुष्य जन्म से मूक (गूंगा) उत्पन्न हुआ है, वह दीन मनुष्यतन पाकर भी गोड, अल्लाह, राम, कृष्ण, ईश्वर आदि नामों के द्वारा भगवान् का भजन नहीं कर सकता। क्योंकि वह उनका उच्चारण करने में असमर्थ है। तो फिर क्या वह इच्छा होने पर भी ईश भजन से वञ्चित ही रहेगा? नहीं! नहीं !! परमात्मा का ओ३म् नाम एक ऐसा नाम है जिसे गूंगा भी बोल सकता है। इसलिए भगवान् का निज नाम ओ३म् ही है। इसके सिद्ध करने में यह प्रबल और अकाट्य युक्ति है।

ओ३म् के सर्वव्यापक, रक्षक, सर्वज्ञ, पापनाशक, सर्वशक्तिमान् आदि अनेक अर्थ हैं। ऐसा सुन्दर मधुर, संक्षिप्त बहुत अर्थोंवाला गम्भीर नाम भगवान् का अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। वेद ने भी ओ३म् के जप के लिए आदेश दिया है—

''ओं क्रतो स्मर, क्लिवे स्मर'' इत्यादि।

हे कर्मशील जीव! तू अपने कल्याण के लिए ओ३म् का स्मरण कर, ऋषि मुनियों ने भी इसीलिए ओ३म् के जप पर बहुत बल दिया है। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में ओ३म् के जप को ब्रह्मदर्शन का एक साधन मानते हैं।

गोपथ ब्राह्मण में आया है कि '**अमृतं वै प्रणवः**' ओ३म् अमृत अर्थात् जीवन है ''**अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति**'' अमृत अर्थात् जीवन के द्वारा मनुष्य मृत्यु को पार करता है।

सार यह है—जन्म मरण के चक्र से निकलने के लिए ओ३म् जैसे परम सहायक को छोड़कर एक सच्चा ब्रह्मचारी इधर उधर कैसे भटक सकता है। इसीलिए प्रत्येक ब्रह्मचर्यप्रेमी वा ब्रह्मचारी को सदैव इस ब्रह्मचारी ओ३म् की छत्रछाया वा शरण में निवास करना चाहिए, जिससे किसी प्रकार की विघ्न बाधाओं का भय वा आशंका ही न रहे और ब्रह्मचर्य का यह कठोर तपस्यामय असिधाराव्रत सरल और अत्यन्त सुगम होजाये और इसके लिए तपश्चर्या करता हुआ यह अनुभव करने लगे कि वह ब्रह्मचर्यरूपी अमृतरस को खूब घूट-घूट कर आनन्द ले लेकर पीरहा है अर्थात् उसकी पतश्चर्या रसमय बन जाये। यह सब कुछ सम्भव है, किन्तु सच्ची लग्न और श्रद्धा चाहिए। सच्ची लग्नवाले श्रद्धालु ब्रह्मचारी के आगे उस परम दयालु ओ३म् की कृपा से विघ्न बाधायें आती ही नहीं। यदि किन्हीं पुराने संस्कारों के कारण कामवासना का अंकुर मुख दिखाने लगता है तो

सहस्रों हाथों से रक्षा करनेवाला परम दयालु ओ३म् उसी समय उस कामरूपी अंकुर की ग्रीवा को तोड़मरोड़कर इतिश्री कर डालता है।

इसी भाव को एक दोहा अच्छी प्रकार से स्पष्ट करता है। इस दोहे को पूज्य श्री स्वामी व्रतानन्द जी महाराज, जो गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक नैष्ठिक ब्रह्मचारी वीतराग आर्यसंन्यासी और गुरुकुल चित्तौड़गढ़ के आचार्य हैं, व्रत के धनी और ब्रह्मचर्य के अद्वितीय प्रचारक हैं, वे अपने व्याख्यानों में खूब झुम-घूम कर और आनन्द लेकर गाया करते हैं। बालकों और युवकों को याद कराया और सिखाया करते हैं। उनका वह प्रिय दोहा यह है—

विषय का विषधर जब डसे ओ३म् जड़ी को ले चबा।
है नागदमन यह औषधि ढूंढन दूर न जा।।

विषयरूपी नाग (सर्प) जब डसता वा काटता है तो इस विषैले नाग का दमन करने के लिए, उस समय इस सर्पविष को दूर करनेवाली ओ३म्रूपी नागदमन बूंटी का सेवन करना चाहिए और वह बूंटी '**तद्वन्तिके**' तेरे अत्यन्त निकट है, उसे ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं।

पर्वतों में एक बिच्छू के समान काटने जैसी भयङ्कर पीड़ावाली बूंटी होती है। किन्तु उसी बूंटी की जड़ में ही एक दूसरी बूंटी होती है उसको छूने से वह पीड़ा तुरन्त ही दूर होजाती है। वहां रहनेवाले लोग इसे भलीभांति जानते हैं। इसी प्रकार जिस दूषित मन में दुष्ट-विचार वा काम-विकार का उद्भव वा उत्पत्ति होती है वहीं इस पापविनाशक ओ३म् का निवास है। क्योंकि हमारा शरीर, मन और आत्मा ही क्या, यह सारा संसार ही सर्वव्यापक ओ३म् से ओत-प्रोत है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

(यजु०अध्याय ४० मन्त्र ५)

यह संसार के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर बाहर विद्यमान है। "**जहां पर तेरा नहीं निवास ऐसी कोई ठोर नहीं है।**" इसलिए विद्वान् योगिजन बाहर उसकी खोज त्यागकर समाधि के द्वारा उसके अपने अन्दर ही दर्शन करते है। इसी प्रकार ऐसा विकट समय आने पर ब्रह्मचारी को ईश्वरचिन्तन में लग जाना चाहिए और प्राणायाम करते हुए ओ३म् का जप करना चाहिए। कामरिपु का वध करने के लिए यह अमोघ अस्त्र है और कामरिपु का सर्वथा दमन करने के लिए ही प्रातःसायं

सन्ध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म का करना ब्रह्मचारी क्या सभी आश्रमवासियों के लिए अनिवार्य समझा गया है।

एक श्लोक जिसको आर्यसमाज के विद्वान् उपदेशक पं० सुरेन्द्र शर्मा जी गौर अपने व्याख्यानों में बहुधा सुनाया करते हैं। उन्हीं की कृपा से मुझे यह प्राप्त हुआ है—

शतं विहाय भोक्तव्यं, सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं, कोटीं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।।

ग्रामों में भी इसी प्रकार की लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

सौ काम छोड़कर खा, हजार काम छोड़कर नहा।
लाख काम छोड़कर दान दिया कर।
करोड़ काम छोड़कर प्रभु ध्यान किया कर।।

इस प्रकार भोजन से स्नान आवश्यक और इन दोनों से दान और दान से भी ईश्वर का ध्यान आवश्यक है। किसी विशेष अवस्था में अन्न वा जल के न मिलने पर अथवा रोग के कारण स्नान और भोजन का अपने लिए त्याग किया जा सकता है, किन्तु ऐसी दशा में भी पात्र को दान देने की भावना और परोपकार की प्रवृत्ति को बनाये रखना विचारशील व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य है। दुर्भाग्यवश दरिद्रता में धन-धान्य के अभाव से मनुष्य किसी की दान द्वारा सहायता न भी कर सके किन्तु उपर्युक्त बाधायें ईश्वरचिन्तन में बाधक नहीं। भूखा, प्यासा, दरिद्र, रोगी सब कोई किसी न किसी रूप में भगवद्भजन कर ही सकता है, केवल श्रद्धा और प्रभुप्रेम चाहिए, जिसमें एक कानी कौड़ी का भी व्यय नहीं। एक करोड़ काम एक समय में किसी के पास नहीं होते। इनके छोड़ने का आशय यही है कि ईश्वरभजन से बढ़कर संसार में कोई आवश्यक कार्य नहीं है। इसलिये ब्रह्मचारी क्या प्रत्येक कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति को सदैव श्रद्धापूर्वक सन्ध्योपासना करनी चाहिये।

किन्तु सन्ध्योपासना विधिपूर्वक करने से पूर्ण लाभ होता है। इस की विधि विस्तारपूर्वक महर्षिदयानन्दकृत पञ्चमहायज्ञविधि, संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में दी है, वहां पढ़कर पूर्ण लाभ उठावें। इतना अवश्य ध्यान रखें कि बिना प्राणायाम के सन्ध्या अधूरी है। प्राणायाम करने से मनुष्य के मन आदि इन्द्रियों की मलिनता व चञ्चलता मिटकर निर्मलता और एकाग्रता प्राप्त होती है। जिससे सन्ध्या में खूब मन लगता और आनन्द आता है। इसलिए सन्ध्या से पूर्व प्राणायाम अवश्य करें।

प्राणायाम की विधि

प्राणायाम की सामान्य विधि यह है:—शुद्ध देश और पवित्र आसन पर जिधर की वायु हो उधर की ओर मुख करके सिद्धासन लगाकर बैठ जावें। नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच (खींच) करके हृदय वा भीतर के वायु को बल से बाहर निकालकर यथाशक्ति बाहर ही रोकदें। पश्चात् शनैः शनैः भीतर वायु को लेकर वहां भी कुछ थोड़ासा रोकें। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करें। अथवा जितना सामर्थ्य और इच्छा हो उतना करें। नासिका को हाथ से न पकड़ें। जब घबराहट हो तो धीरे-धीरे वायु को बाहर निकालदें। और जब बाहर निकालना चाहें तब मूलेन्द्रिय (नाभि के नीचे के भाग) को ऊपर खींच रखें। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है और यह क्रिया स्वप्नदोष आदि को दूर करने तथा ब्रह्मचर्यरक्षा में अत्यन्त सहायक है। प्राणायाम करते समय मन में ओ३म् का जप करता जाये अथवा प्राणायाममन्त्र का मानसिक जप करे। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

यह सदैव ध्यान रखें कि अपनी शक्ति के अनुसार सुखपूर्वक अन्दर और बाहर प्राण को रोकना चाहिए, बलपूर्वक अधिक देर रोकने से हानि होती है।

यही प्राणायाम की क्रिया सन्ध्या में जो प्राणायाममन्त्र आता है उसका जप करके करनी चाहिए। प्राणायाम की जो रीति दी है इस प्रकार कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम सन्ध्या के साथ करने चाहियें। यहां विधिपूर्वक सन्ध्या करने के लिए थोड़ासा प्राणायाम के बारे में लिख दिया है। ब्रह्मचर्यपालन की दृष्टि से प्राणायाम का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसलिए इसका पृथक् ही एक भाग कर दिया है, उसका स्वाध्याय करके लाभ उठायें।

जो मनुष्य अपने आचरण का सुधार नहीं करता और दिखाने के लिए सन्ध्या करता है वह दम्भी है। इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं ''कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण, कर्म, स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाण्ड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता है और अपना चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है।''

इसलिए ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है कि वह ''जगदीश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वत्र, सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रखे।''

आदर्श ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द जी की इस आज्ञा के अनुसार चलने से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य का पालन करने में सहज में ही समर्थ और सफल होता है। ब्रह्मचारी की ब्रह्मचर्य की शुभ और पवित्र प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करता है और फिर वह पूर्ण विद्वान्, बलवान् और आयुष्मान् होकर सम्पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करता है।

हवन

जिस प्रकार सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासना करना आवश्यक है उसी प्रकार अग्निहोत्र (हवन) भी दोनों समय नित्य करना चाहिए। इसकी विधि भी महर्षि दयानन्द जी कृत पंचमहायज्ञविधि और संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में लिखी है। उसके अनुसार नियमपूर्वक अग्निहोत्र करके लाभ उठावें।

यह सब लोग जानते हैं कि हमारे शरीर से मल-मूत्र आदि के रूप में दूषित और दुर्गन्धयुक्त पदार्थ निकलते रहते हैं जो जल और वायु को दुर्गन्धयुक्त और दूषित कर देते हैं। जल वायु के बिगड़ने से रोगों की उत्पत्ति और रोगों से प्राणियों को दुःख होता है। इसी प्रकार चन्दन, घृत आदि सुगन्धित और पौष्टिक द्रव्य जो हवन के समय अग्नि में डाले जाते हैं वे पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्धि की निवृत्ति करते हैं और जल वायु के सुगन्धित होने से आरोग्य की वृद्धि और रोगों का नाश होता है, जिससे सब प्राणियों को सुख होता है। अग्नि में डाला हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता। क्योंकि जहां होता है वहां से दूर देश में खड़े हुये पुरुष को भी (नासिका से) सुगन्ध का ग्रहण होता है। पदार्थविद्या जाननेवाले लोग इसे भलीभांति जानते हैं। अग्नि में भेदकशक्ति है। जब होम किया जाता है तो वह घर में ठहरी हुई वायु और दुर्गन्धयुक्तपदार्थों को छिन्न भिन्न और हल्का करके घर से बाहर निकाल देता है और उसके स्थान पर पवित्र वायु का प्रवेश कराके रोगों के नाश और सुख की वृद्धि का कारण बनता है। घर में रखे हुए केसर कस्तूरी वा सुगन्धित पुष्पों के सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके। क्योंकि इसमें अग्नि के समान भेदकशक्ति नहीं है। जो मनुष्य होम नहीं करता वह पाप का भागी होता है। इस विषय में सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा

उस से अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुखविशेष होता है। जितना घृत और सुगन्ध आदि पदार्थ एक मनुष्य खाता उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तमोत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इसके अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये, परन्तु उस से होम अधिक करना उचित है, इसलिये होम करना आवश्यक है।''

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

हमारे पुरुषा प्राचीन काल से सन्ध्या के समान होम भी प्रतिदिन सभी करते थे। वाल्मीकि रामायण में आता है—

द्रष्टुमशक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।।

(बालकाण्ड, सप्तम सर्ग)

अयोध्या में अशिक्षित (अनपढ़), नास्तिक (ईश्वर को न माननेवाला), प्रतिदिन यज्ञ न करनेवाला, नीच और चोर आदि ढूंढने पर भी नहीं मिलता था, वहां इनका दर्शन असम्भव था अर्थात् सभी ईश्वर के भक्त, आस्तिक, विद्वान् धर्मात्मा वा प्रतिदिन होम करनेवाले थे।

अश्वपति महाराज का राज्य भी इसी प्रकार का था। इन दो राज्यों की क्या बात है, सृष्टि से लेके महाभारत से कुछ काल पूर्व तक सारे भारतवर्ष की ऐसी ही अवस्था रही है।

सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द जी महाराज लिखते हैं—

''प्रत्येक मनुष्य को सोलह सोलह आहुति और छः छः माशे घृतादि एक एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इस से अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि राजे महाराजे लोग बहुतसा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्य्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही होजाये''

(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

इसलिये सन्ध्या के समान होम भी ब्रह्मचारी को प्रतिदिन करना चाहिये क्योंकि होम के लिये शास्त्रों में अनध्याय (छुट्टी) करने की अनुमति नहीं है।